प्रथमोपशम सम्यक्त्व पूर्व की

पंचलब्धि

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

प्रथमोपशम सम्यक्त्व पूर्व की

पंचलब्धि

— लेखिका —

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दिनेशचंद्र शहा

एम.बी.बी.एस., डी.सी.एच., डी.जी.पी.

— संपादक —

पं. दिनेशभाई शहा

एम.ए., एल.एल.बी.

— प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान —

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पू.), मुंबई - ४०००२२.

फोन : ०२२-२४०७ ३५८१, E-mail: ujwaladinesh@yahoo.com

Website: www.jainsiddhant.org

हिन्दी	पांचवां संस्करण २६ जनवरी २०१४	१,००० प्रत
हिन्दी	चार संस्करण	७,००० प्रत
मराठी	दो संस्करण	५,५०० प्रत
गुजराती	तीन संस्करण	७,००० प्रत
	योग	२०,५०० प्रत

— दातार —

श्री. यशवंतकुमार और श्रीमती रिटा जैन, बेंगलोर	११,०००
श्रीमती सरिता महावीर मगदुम, मुंबई	११,०००
श्री. दीपक गंगवाल वाशिम	५,०००
श्री. अनुभव आदि, पूजा जैन, जबलपुर	५,०००

– हमारे प्रकाशन –

१)	जैनतत्त्व परिचय - मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु. १५
२)	कारण कार्य रहस्य - मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु. १५
३)	करणानुयोग परिचय - मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु. १५
४)	पंचलब्धि - मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु. १५
५)	भक्तामरस्तोत्र प्रवचन - मराठी	रु. १५
६)	स्वानुभव - मराठी	रु. ६
७)	परमात्मा कसे बनाल ! - मराठी	रु. ६
८)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि - हिन्दी	रु. १५०
९)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि - हिन्दी	रु. १५०
१०)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार-क्षपणासार एवं अर्थसंदृष्टि-हिन्दी	रु. १००
११)	जैन भूगोल - हिन्दी	रु. ५०

Visual DVDs (each DVD contains 3 to 5 hrs lectures)

जैन सिद्धांत : शिबिर १ और २	16	गुणस्थान : शिबिर	10
जीवकाण्ड : शिबिर १ और २	16	जीवकाण्ड अर्थसंदृष्टि	18
कर्मकाण्ड : शिबिर १ और २	20	कर्मकाण्ड अर्थसंदृष्टि	13
लब्धिसार - क्षपणासार:शिबिर १ और २	22	लब्धिसार-क्षपणासार अर्थसंदृष्टि	16
पंचपरावर्तन शिबिर	12	क्रमबद्धपर्याय	3

आत्मा की ४७ शक्तियाँ 3

मूल्य : रु. १५/-

प्रकाशकीय

करणानुयोग के किसी विषय पर लिखी हुई पुस्तक प्रकाशित करना एक बड़ा साहस का काम है, इस बात से सभी प्रकाशक परिचित हैं ही क्योंकि प्रथम में प्रथम यह विचार आता है कि इसे पढ़नेवाले कितने मिलेंगे? छपी हुयी पुस्तके अपने पास ही पड़ी तो नहीं रहेगी ना? आदि ... आदि! लेकिन आज तक का हमारा अनुभव कुछ निराला ही है।

हम दोनों - मैं और मेरी धर्मपत्नी श्रीमती उज्ज्वला जहाँ भी प्रवचनार्थ जाते हैं वहाँ करणानुयोग के विषय से संबंधित और आधारित जब कोई बातें आती हैं तब श्रोताओं में उसके बारे में जानने की उत्सुकता और बढ़ती हुयी रुचि देखकर ऐसा लगता था कि करणानुयोग के विषय में हम अवश्य कुछ प्रकाशित करें। वास्तव में हमसे प्रकाशित 'करणानुयोग परिचय' नामक पुस्तक को हमारी अपेक्षा से बहुत अधिक प्रमाण में प्रतिसाद मिला है और उसे केवल पाठकों ने ही नहीं किन्तु करणानुयोग के विशेषज्ञों और पंडितों ने भी खूब सराहा है। इसलिए विशेषरूप से करणानुयोग संबंधी पुस्तक प्रकाशित करने का हमने मन ही मन में निश्चित कर लिया था।

योगायोग ऐसा हुआ कि 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पूर्व की पंचलब्धि' विषयपर कुछ लिखना चाहिए ऐसी हमारे गुरुतुल्य व्यक्ति ब्र. पं. यशपालजी की इच्छा थी। उन्होंने श्रीमती उज्ज्वला को पंचलब्धि विषयपर लिखने के लिये कहा क्योंकि उन्हें इस बात का विश्वास था कि इस विषयपर श्रीमती उज्ज्वला उनकी अपेक्षानुसार लिखेगी। द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से करणानुयोग समझाने की स्टाईल जो उज्ज्वला अपनाती है, वह उन्हें बहुत अच्छी लगती है इसलिए उन्होंने बारबार उसे प्रेरित किया। यहाँ तक कि उन्होंने जयपुर और देवलाली में भरी सभा में कहा था कि, 'श्रीमती उज्ज्वलाजी को पंचलब्धि विषयपर लिखने को मैंने कहा है और मुझे विश्वास है कि वे जरूर लिखेगी।'

इस तरह उनकी बारम्बार प्रेरणा मिलने से उज्ज्वला ने लिखना प्रारंभ किया और पूरा भी किया। इसमें खास बताने की बात यह है कि आदरणीय ब्र. पं. यशपालजी ने यह पुस्तक छापने के पहले आद्योपान्त पढ़ी और भूरी भूरी प्रशंसा के साथ प्रसन्नता और संतोष व्यक्त करते हुअे आशीर्वचन कहे।

हमारे सहाध्यायियों को इस पुस्तक के बारे में पता चला तब उन्होंने दिल खोलकर दानराशि देना प्रारंभ किया। इसी दरम्यान स्व. मोहनलाल धनजीभाई शाह और स्व. कांताबहन मोहनलाल शाह इनके परिवार ने इस पुस्तक का पूरा खर्चा उठाने का मानस प्रकट किया परंतु कुछ लोगों ने पहले से ही दान दिया हुआ था। उनका भी नाम दातारों की नामावली में लिखा है। अन्य कितने ही दातारों को हमें मना करना पड़ा। हम तो दातारों के आभारी हैं ही, साथ साथ उनके भी आभारी हैं, जिनकी हमारे प्रकाशन में सहायता करने की इच्छा थी।

आज तक इस बात का हमें बिल्कुल एहसास हुआ है कि जो अच्छा काम होता है वह पूरा होने में कोई विघ्न नहीं आता। पुस्तक छपवाने में दातारों का, प्रिन्टिंग प्रेसवालों का, डी. टी. पी. करनेवालों का बहुत अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ, हम उन सबके आभारी हैं।

वाचक तो हमारे अपने है, आशा है हमेशा की तरह वे इस प्रस्तुति को - 'पंचलब्धि' को भी अपनायेंगे।

पं. श्री. दिनेशभाई शहा

लेखिका का मनोगत

सन १९९२ में मैंने और मेरे पति श्री. दिनेशजी ने स्वाध्यायार्थ अपने अपने व्यवसायों में से निवृत्ति ली। तब से हम जयपुर तथा अन्यत्र शिबिरों में ब्र. पं. यशपालजी जैन की गुणस्थान की कक्षा में बैठने लगे। द्रव्यानुयोग का अभ्यास तो अनेक सालों से चलता ही आ रहा था। अब करणानुयोग के स्वाध्याय में भी रुचि बढ़ने लगी। हम दोनों ने मिलकर पं. टोडरमलजी लिखित सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका के जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, अर्थसंदृष्टि अधिकार का स्वाध्याय किया, पश्चात् सामूहिकरूप से भी स्वाध्याय किया। जयपुर, देवलाली, छिंदवाडा, दुबई, अमदाबाद, कारंजा, देऊळगावराजा, सोलापुर, पुणे आदि अनेक जगह हमने करणानुयोग के विषयोंपर कक्षायें ली थी। हर जगह लोगों की करणानुयोग के विषयों को जानने की तीव्र जिज्ञासा और उत्साह देखने में आया, श्रोताओं का बढ़िया प्रतिसाद मिला। लोगों ने इस विषय की बहुत सराहना की।

फिर भी कई लोगों का प्रश्न है कि पू. श्री कानजीस्वामीजी ने करणानुयोग पर प्रवचन नहीं किये थे, तो इसकी क्या आवश्यकता है? उन लोगों को मैं बताना चाहती हूँ कि उनके अनेक प्रवचनों में कितने ही वाक्य ऐसे मिलते हैं कि उससे पता चलता है कि उनका करणानुयोग का अत्यंत गहरा अध्ययन था। करणानुयोग के अध्ययन से द्रव्यानुयोग के सिध्दांतों की पुष्टि होती है और द्रव्यानुयोग के अध्ययन से करणानुयोग पढ़कर भी भेदज्ञान कैसे करना, वीतरागता की वृध्दि कैसे करनी आदि बातों की कला आत्मसात होती है।

पू. श्री कानजीस्वामी द्वारा हमें द्रव्यानुयोग के महान सिध्दांतों का मर्म समझा है। इसकारण द्रव्यानुयोग के इस विशिष्ट दृष्टि से करणानुयोग का पंचलब्धिवाला विषय पुस्तकरूप से लिखने संबंधी ब्र. पं. यशपालजी ने बारम्बार मुझे प्रेरणा दी। यह कठिन विषय मैं समझा नहीं पाऊंगी इस बात का पता होनेपर भी उनकी बात मैं टाल न सकी। लब्धिसार, मोक्षमार्ग प्रकाशक, जैनेन्द्र सिध्दांत कोश आदि ग्रंथों का बारम्बार आधार लेते लेते मैंने यह 'पंचलब्धि' पुस्तक लिखने का साहस किया है। मेरा गहरा अध्ययन होता गया वैसे पता चला कि इस विषय के बारे में हमने कभी इस दृष्टिकोण से विचार ही नहीं किया था। मेरी अल्पबुध्दि द्वारा इस विषय को प्रस्तुत करने का प्रयत्न तो किया है परंतु मुझे आशा है कि इसके विशेष ज्ञानी जीव इसमें यदि त्रुटियां होगी तो मुझे बता दें।

यहाँ मूल विषय समझाने के पहले कर्मसंबंधी सामान्य जानकारी तथा पारिभाषिक शब्दों के अर्थ समझाये हैं ताकि मूल विषय समझने में आसानी हो जाये। अनेक जगह चार्टस् बनाकर समझाने का प्रयास किया है। लिखने एवं पढ़ाने से एक बात मेरे ख्याल में आ गयी है कि स्वयं पढ़ने से जो विषय कुछ खास समझ में नहीं आये थे वे ही पढ़ाते हुये - लिखते हुये अच्छी तरह से समझ में आये। करणानुयोग की गहराई समझ में आती है उतना ही हमारे परोक्ष गुरु पं. टोडरमलजी के प्रति आदरभाव - अहोभाव जाग्रत होता है। वे यदि यह टीका लिखकर नहीं समझाते तो हम कुछ नहीं समझ पाते। 'पंचलब्धि' विषयपर लिखते हुये उससंबंधी मेरा ज्ञान का विकास हुआ है इतनी तो लब्धि - इतना लाभ तो मुझे हुआ ही है।

पुस्तक लिखने के पश्चात् वह छपकर वाचकों के हाथ में पहुंचती है इसके दौरान अत्यंत कठिन तपस्या होती है - प्रूफ रीडिंग तथा छपाईसंबंधी अन्य अनेक झंझटों से गुजरना पड़ता है जो कार्य मेरे पति पं. दिनेशभाई शहा अत्यंत कुशलतापूर्वक गत अनेक सालों से सम्पन्न कर रहे हैं। उनके आधार बिना मेरी यह लिखाई मेरे घर में ही रह जाती, मेरे ये पत्र मेरी बेटियों तक ही पहुंच पाते, इसलिए वे धन्यवाद के पात्र है।

आशा है 'पंचलब्धि' को जानकर, प्रकट कर हम सब दर्शन और चारित्र की लब्धि प्राप्त कर शीघ्र ही मोक्षलब्धि प्राप्त करेंगे।

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

MP3 सीडीज् (128 KBPS)(प्रत्येक सी.डी. में १२ घण्टों के प्रवचन हैं)

– पं. दिनेशभाई शहा –

१) लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	७	१३) समयसार	७५
२) बालबोध पाठमाला	४	१४) प्रवचनसार	५०
३) वीतराग विज्ञान पाठमाला	५	१५) नियमसार	३६
४) तत्त्वज्ञान पाठमाला	५	१६) अष्टपाहुड	२५
५) गुणस्थान विवेचन	५	१७) कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१९
६) कारण कार्य रहस्य	१	१८) आत्मसिद्धि	१२
७) छहढाला	४	१९) नाटक समयसार	२१
८) बृहद् द्रव्यसंग्रह	८	२०) योगसार	५
९) रत्नकरंड श्रावकाचार	१३	२१) तत्त्वार्थसूत्र	१८
१०) मोक्षमार्ग प्रकाशक	२३	२२) पुरुषार्थसिद्धिउपाय	६
११) अनुभवप्रकाश	८	२३) परमात्म प्रकाश	२३
१२) इष्टोपदेश	५	२४) कलशामृत (अपूर्ण)	२५

– डॉ. उज्ज्वला शहा –

१) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड	२५	१२) पांच भाव (तत्त्वार्थसूत्र)	२
२) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड	२१	१३) कारण कार्य रहस्य	२
३) लब्धिसार-क्षपणासार	११	१४) प्रमाद के भेद	१
४) धवला (पु.१ से १६)	१०२	१५) षट्स्थानपतित हानि वृद्धि	१
५) जयधवला (पु. १ से १६)	११७	१६) संख्यामान	१
६) महाधवला (पु. १ से ७)	१०५	१७) सात तत्त्व	१
७) क्रमबद्धपर्याय	४	१८) योग	१
८) करणानुयोग परिचय	३	१९) जैन भूगोल VCD	२०
९) निमित्त उपादान + पंचपरावर्तन	२	२०) भावदीपिका	७
१०) पंचलब्धि	२	२१) अनगार धर्मामृत	१२
११) पांच भाव	१	२२) सागार धर्मामृत	५

२३) पंचाध्यायी (अपूर्ण) २०

अनुक्रमणिका

पत्रांक १	कर्म-मूलप्रकृति	१
पत्रांक २	कर्म-उत्तरप्रकृति	१५
पत्रांक ३	कर्म-उत्तरप्रकृति भाग २	३०
पत्रांक ४	कर्मसंबंधी कुछ पारिभाषिक शब्द	४२
पत्रांक ५	प्रथमोपशम सम्यक्त्व-पात्रता	५६
पत्रांक ६	क्षयोपशमलब्धि और विशुध्दिलब्धि	६८
पत्रांक ७	देशनालब्धि	८०
पत्रांक ८	प्रायोग्यलब्धि	९२
पत्रांक ९	करणलब्धि - अध:प्रवृत्तकरण	१०७
पत्रांक १०	करणलब्धि - अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण	१२५
पत्रांक ११	प्रथमोपशम सम्यक्त्व	१४३

कर्म-मूलप्रकृति

पत्रांक १

डॉ. सौ. उज्ज्वला दि. शहा
१५७/९ निर्मला निवास,
सायन (पूर्व) मुंबई ४०००२२
टेलि. २४०७३५८१
२५ अप्रैल २००३

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

'कारण कार्य रहस्य' नामक पत्ररूप स्वाध्याय द्वारा जैन तत्त्वज्ञान, वस्तुव्यवस्था एवं वस्तुस्वातंत्र्य की गहरी जानकारी और पहचान हुयी ऐसा तुम दोनों ने बताया।

'ये तत्त्व ऐसे ही हैं, अन्य प्रकार नहीं हैं, इसतरह पूर्ण विश्वास हुये बिना, उनके अनुसार तत्त्वनिर्णय हुये बिना हमारी निमित्ताधीन दृष्टि छूटती ही नहीं। जब तक इस जीव की निमित्ताधीन दृष्टि है, निमित्त से ही कार्य होता है और निमित्त नहीं मिला इसलिए मेरा विशिष्ट कार्य नहीं हो रहा है ऐसी मान्यता है, तब तक प्रत्येक द्रव्य की स्वाधीन, सहज, स्वयंपूर्ण कार्यक्षमता और कार्यव्यवस्था इस जीव के ख्याल में नहीं आती, उसे इन बातों का विश्वास नहीं होता।

जीव और पुद्गल दो स्वतंत्र भिन्न द्रव्य हैं और उनकी प्रत्येक पर्याय उनके स्वयं में अर्थात् अपने अपने में, स्वयं से, स्वयं की विशिष्ट योग्यता से होती रहती है। छहों द्रव्यों में यही नियम पाया जाता है।

छह द्रव्यों के नाम तो हम जानते हैं, कोई पूछे तो झट से बता भी देते हैं। परंतु क्या सचमुच हमने छह द्रव्यों का अस्तित्व माना है? इस बात का अपने

मन में ही विचार करना चाहिए। शरीर ही मैं हूँ मानकर इससे भिन्न कोई जीव नाम का पदार्थ है इस बात का ही अनेक लोगों को विश्वास नहीं है। दृश्य तथा इन्द्रियगम्य पदार्थों का अर्थात् ज्ञेयों का अस्तित्व इस जीव को मान्य है, उन बातों का इसे विश्वास है परंतु उन बातों को जाननेवाला यह मैं स्वयं जीव हूँ, शरीर से भिन्न अस्तित्व धारण करनेवाला पदार्थ हूँ, इस बात का तो उसे गंध भी नहीं है।

शास्त्र स्वाध्याय का प्रयोजन विवक्षित विषयसंबंधी जानकारी हासिल करना मात्र नहीं है, अपितु उसके द्वारा स्वयं का स्वरूप पहचानना तथा पुद्गलादि अन्य द्रव्यों से भिन्न और अपने गुणपर्यायों से अभिन्न - अभेद निजशुध्दात्मा का अनुभव करना ही उसका प्रयोजन है - तात्पर्य है। इसीलिए कहा है कि प्रत्येक शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है।

'करणानुयोग परिचय' नामक पत्ररूप पुस्तक द्वारा करणानुयोगसंबंधी अभ्यास करते हुये भी अपना स्वयं का स्वरूप कैसे पहचानना, द्रव्यानुयोग द्वारा सीखे हुये सिध्दांत करणानुयोग में कैसे घटित करना इस दृष्टि से हमने विचार किया था। उस पुस्तक में हमने जीव की बीस प्ररूपणा तथा कर्मसंबंधी स्थूल चर्चा की थी। उसमें सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व में होनेवाली पांच लब्धिसंबंधी उल्लेख आया था, उसपर थोड़ीसी चर्चा भी की थी।

उसकी अधिक चर्चा जानने के लिये मैंने तुम्हें मोक्षमार्ग प्रकाशक और रत्नकरंड श्रावकाचार ग्रंथ की टीका पढ़ने की प्रेरणा दी थी। तुमने पढ़ा और रत्नकरंड श्रावकाचार की कैसेट भी सुनी, फिर भी 'प्रायोग्यलब्धि तथा करणलब्धि संबंधी बातें कुछ भी समझ में नहीं आती हैं, आप ही समझाना' ऐसी तुम दोनों ने बिनती की है। अनेक विद्वानों ने भी आग्रहपूर्वक कहा है कि पंचलब्धिसंबंधी विस्तृत विवेचनात्मक पुस्तक आप अवश्य लिखना।

वैसे तो यह विषय लब्धिसार ग्रंथ के स्वाध्याय में मैंने यहाँ सुबह के स्वाध्याय में सिखाया था। सामने उपस्थित स्वाध्यायी जनों को सिखाना भी बहुत कठिन काम है। तो फिर लिखितरूप में समझाना कैसे बनेगा सोचकर मैं लिखने के बारे में हिचकिचा रही थी।

परंतु ब्र. पं. श्री. यशपालजी जैन गत अनेक महिनों से मुझे इस विषयपर लिखने संबंधी प्रेरित कर रहे थे। जब जब शिबिरों में मिलते थे तभी और जब कभी वे मुंबई आते थे तब भी फोन पर पूछते थे कि क्या आपने इस विषयपर लिखना प्रारंभ किया है?

इसलिए साहस जुटाकर आज महावीर जयंती के दिन मैं इस नये विषय पर लिखना प्रारंभ कर रही हूँ। आज २६०० वाँ महावीर जयंती दिन देश विदेश में मनाया जा रहा है। उनकी दिव्यध्वनि में प्रतिपादित और आचार्य परम्परा से प्राप्त ग्रंथों के आधार से इस विषयपर हम आज से चर्चा करेंगे।

सर्वप्रथम हमारे शासननायक भगवान महावीर स्वामी को मैं अनेक बार भावपूर्ण नमस्कार करती हूँ। भगवान महावीर हमारे भरतक्षेत्र के, वर्तमान चौबीसी के अंतिम तीर्थंकर है। उनकी दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश हमें प्राप्त हुआ। एक तीर्थंकर के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर तक का काल पूर्व के तीर्थंकर का शासनकाल कहलाता है। साम्प्रत भरतक्षेत्र का यह पंचमकाल भगवान महावीर का शासनकाल है।

भगवान महावीर की ॐकाररूप दिव्यध्वनि खिरी। उसे सुनकर गणधरों ने बारह अंगों की अर्थात् द्रव्यश्रुत की - जिनागम की रचना की। अनेक वर्षों तक यह ज्ञान आचार्यों की परम्परा से चलता आया। परंतु कालदोष से उसमें से अधिकतर ज्ञान का लोप हुआ, अत्यंत अल्प ज्ञान बाकी रहा जो 'षट्खंडागम' नाम से प्रथम ही लिखितरूप में अस्तित्व में आया - लिपिबध्द कराया गया। इसे प्रथम श्रुतस्कंध कहते हैं। इसमें जीव और कर्म संबंधी विस्तृत विवेचन है। इनमें से प्रथम तीन खण्डोंपर कुंदकुंदाचार्यने 'परिकर्म' नामक विस्तृत टीका लिखी थी।

आगम की दूसरी शाखा, जिसे द्वितीय श्रुतस्कंध कहते हैं, उसकी परम्परा में आगे चलकर समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पंचास्तिकाय तथा अन्य अनेक शास्त्रों की रचना हुयी।

हम बड़े भाग्यशाली हैं कि ये सब शास्त्र तथा समय समय पर लिखी गयी उनकी टीकायें, अनुवाद तथा विद्वानों द्वारा किये हुये प्रवचन आज भी हमें उपलब्ध हैं।

आचार्यों के इन मूल ग्रंथों का हमें आद्योपांत क्रम से स्वाध्याय करना जरूरी है। विवक्षित गिनी चुनी गाथायें और उनके प्रवचन सुनकर हमें सर्वांगीण अर्थबोध नहीं हो सकता। क्योंकि विवक्षित जगह विवक्षित अपेक्षा से कथन किया जाता है। एक ही आचार्य अन्य जगह अन्य अपेक्षा से कथन करते हैं। कुंदकुंदाचार्य ने समयसार लिखा है और प्रवचनसार ग्रंथ भी उन्होंने ही लिखा है। प्रवचनसार ग्रंथ में ज्ञानप्रधान शैली है। वहाँ वे कहते हैं कि जो द्रव्य जिस भावरूप से परिणमित होता है, उस समय वह द्रव्य उस भावरूप ही होता है। द्रव्य विभावरूप - रागरूप परिणमता है वह उस द्रव्य का विभावस्वभाव है।

वे ही कुंदकुंदाचार्य समयसार में दृष्टिप्रधान शैली में कहते हैं कि राग जीव का है ही नहीं, वह निश्चय से कर्म का है, कर्मकृत है, पुद्गल है। वहाँ रागादिकों के साथ अपनी स्वामित्वबुध्दि छुड़ाकर निजशुध्दात्मा की दृष्टि कराना यही आचार्यों का हेतु है।

गोम्मटसारादि करणानुयोग के ग्रंथों में कर्म, उनका बंध, उदय आदि संबंधी जो विस्तृत विवेचन है वह निमित्तों का ज्ञान कराने के लिये किया है। आज तक हम अपने आपको हीन, दीन, पराधीन मानते आ रहे थे और कर्म को हमने बलवान माना था, कर्म हमें सुखी दुःखी करते हैं, वे ही हमें राग द्वेष करने के लिये मजबूर करते हैं माना था। करणानुयोग के ग्रंथों द्वारा कर्म के बंध, उदय तथा अन्य अनेक अवस्थाओं संबंधी ज्ञान होनेपर हमें उनकी भिन्नता का भान होता है। इस अभ्यास द्वारा कर्मोदय से प्राप्त परपदार्थ और अपने स्वयं का स्वभाव इनमें भेदज्ञान सहज रीति से होता रहता है।

शास्त्र में कथन आता है कि दर्शनमोहनीय का भेद मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव को मिथ्यात्व होता है। उसे पढ़कर यदि हम विचार करेंगे कि, 'अरे, मेरा यह कर्म तो अनादि से है और हर समय उदय में आ रहा है तो फिर मुझे

सम्यक्त्व कैसे प्राप्त होगा?' तो हम भयभीत होते हैं। परंतु कर्म का ज्ञान करके, स्वयं की भिन्नता का भान करके, स्वयं का स्वरूप पहचानकर स्वशुध्दात्मा में एकाग्रता करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है इस बात का पता चलनेपर हमारा भय दूर हो जाता है। वास्तव में अपना सम्यग्दर्शनरूपी कार्य प्रकट करने के लिये हमें कर्म की ओर देखने की जरूरत नहीं है।

हमारे सम्यग्दर्शनरूपी कार्य का कारण, केवलज्ञानरूपी शुध्द कार्य का कारण तो हमारे अपने द्रव्य में ही विद्यमान है। सायंकालीन स्वाध्याय में नियमसार में यही बात चल रही है। तुम्हें पता ही है आजकल तुम्हारे पिताजी शाम के स्वाध्याय में एक घण्टा प्रवचनसार और एक घण्टा नियमसार पर प्रवचन कर रहे हैं।

नियमसार में तो बारम्बार कहा है कि शुध्द कार्य - स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है उसका कारण तो द्रव्य में त्रिकाल विद्यमान है। केवलज्ञानरूपी शुध्द कार्य जिसे आचार्यों ने कार्यस्वभावज्ञान कहा है, उसका कारण कौन है? क्या ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है? बिल्कुल नहीं। उसका कारण तो उस जीवद्रव्य में त्रिकाल विद्यमान है उसे कारणस्वभावज्ञान कहा है। ज्ञानपर्याय का वह त्रिकाली उपादान कारण है और केवलज्ञानरूप से पर्याय में प्रकट होने का सामर्थ्य प्रत्येक समय में अपने में ही वर्तता है।

हमारे इस स्वसामर्थ्य का जब हमें पता चलता है तब अन्य परपदार्थों की महिमा सहज ही छूट जाती है, उनका लक्ष्य छूट जाता है, अपनी स्वयं की स्वसामर्थ्य की महानता भासित होने लगती है। उस वक्त अपना ज्ञान का उपयोग अपने इस त्रिकाली स्वभावपर केंद्रित होता है, उसमें एकाग्र होता है अर्थात् लीन होता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। उसी स्वभाव में अधिकाधिक स्थिरता - एकाग्रता होनेपर शुध्दोपयोग द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

जिस समय केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी समय सभी प्रकार के ज्ञानावरण कर्मों का उनकी स्वयं की उपादान की योग्यता से स्वयं ही क्षय होता

है। एक ही समय में होनेवाली इन दो भिन्न द्रव्यों की पर्यायों में निमित्त नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करने के लिये शास्त्र में कथन आता है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान की उत्पत्ति हुयी। कर्म का जो जो कथन आयेगा वहाँ जीव और कर्म का ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है इस बात को हमें ख्याल में रखना चाहिए और इसी निर्णय के साथ जीव और कर्म संबंधी कथन का योग्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

जीव के परिणामों का विवेचन करते हुये उन परिणामों के निमित्त से कौनसे कर्म बंधते हैं या कौनसे कर्मों का बंध होना रुक जाता है आदि कथन शास्त्र में आता है। वहाँ कर्मप्रकृति की लम्बी सूचि लिखने का प्रयोजन नहीं होता, परंतु उस समय के जीव के परिणाम दर्शाना ही उसका हेतु है।

अब यहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने से पूर्व जो पांच लब्धि नियमरूप से पायी जाती हैं, उनके स्वरूप का वर्णन करते समय हम जीव के परिणाम और कर्मो में होनेवाले अवस्थांतर इनके आधार से चर्चा करेंगे। उन सभी बातों का अच्छी तरह से परिज्ञान होने के लिये कर्म संबंधी प्राथमिक जानकारी, कुछ पारिभाषिक शब्द और उनके अर्थ समझना अति आवश्यक है।

'लब्धि' शब्द का अर्थ होता है लाभ अर्थात् प्राप्ति। लौकिक जीवन में हम किसी भी बात का या कार्य का लाभ केवल रुपयों में ही गिनते हैं। हे जीव! तुम तो चैतन्य शक्ति के पिंड हो और धनसम्पत्ति तो जड़- अचेतन - पुद्गल है। इस पुद्गल में वृध्दि या हानि होने से तुझे क्या लाभ या नुकसान है? हां, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होना ही तुम्हारी सच्ची उपलब्धि है, सच्चा लाभ है।

ऐसा परिपूर्ण, अतीन्द्रिय, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख तो मोक्षप्राप्ति में है। मोक्ष का अर्थ है जीव की सम्पूर्ण शुध्दि और सत्ता में से सर्व कर्मों का सम्पूर्णतया नाश होना। यह मोक्षपर्याय संवर और निर्जरापूर्वक होती है। कर्म के बंध की हानि होना संवर है और कर्म के सत्त्व की हानि होना निर्जरा है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो नवीन बंध कम होना संवर है और पूर्व में बंधे हुये कर्मों

में से अधिक मात्रा में कर्मों का खिर जाना निर्जरा है। जीव के परिणामों की दृष्टि से देखा जाये तो शुध्दि की उत्पत्ति संवर है, शुध्दि की वृध्दि निर्जरा है तथा शुध्दि की पूर्णता मोक्ष है।

शुध्दि अर्थात् शुध्दोपयोग - आत्मस्थिरता - आत्मलीनता - शुध्दात्माभिमुख परिणाम। जब जीव शुध्दोपयोग में रहता है तब उसे अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति होती है। रागद्वेषरूप कषाय दुःख देनेवाले परिणाम हैं। छहढ़ाला में कहा है - 'रागादि प्रकट ये दुःख देन'। शुध्दोपयोग रागद्वेषरहित वीतरागी परिणाम होने से उसमें निराकुलतारूप सुख का अनुभव होता है।

तुम पूछोगी, 'यह सुख कैसा है?' इस सुख को हमारे ऐहिक सुख की उपमा नहीं दे सकते। हम जिसे सुख समझते हैं उस विषयभोग में तो दुःख है। परंतु हमने भ्रम से उसे सुख माना है। विषय शब्द का अर्थ है पांच इन्द्रियों के विषय। हमें स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय द्वारा क्रमशः पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, तथा शब्द का ज्ञान होता है। यह जीव उनमें से कुछ पर्यायों को इष्ट मानता है और उन्हें जानते हुये 'मैं उन परपदार्थों का भोग करता हूँ' मानता है।

सच देखा जाये तो जीव को विशिष्ट इच्छा होती है, मान लो किसी के लड्डू खाने की इच्छा हुयी, तो वह उस इच्छा से दुःखी होता है। लड्डू खाने से उसकी इच्छा मिट जाती है और इच्छा से उत्पन्न दुःख कम होता है इसलिए वह मानता है कि लड्डू खाने से मैं सुखी हो गया। यदि लड्डू खाने से ही सुख प्राप्त होता हो तो अधिक लड्डू खाने से अधिक सुख होना चाहिए। कोई दो, चार.... पचास लड्डू खाये तो? क्यों, इस कल्पना से ही जी मचलने लगा, है ना?

किसी के लड्डू खाने की इच्छा हुयी परंतु जब तक लड्डू खा रहा है तब तक अन्य अनेक इच्छायें उत्पन्न होती रहती हैं। यह तो हमारे सेज के अनुभव की बात है। इसलिए लड्डू खाने पर भी वह जीव अन्य इच्छाओं के कारण दुःखी ही रहता है। इसे एक मजेदार दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है। तराजू के एक पलड़े में अनेक मेंढ़कों को एक के बाद एक रखकर फिर उनको तौलना है -

उनका वजन करना है। जब तक एक मेंढ़क को रखकर दूसरे को उठाने जाओ तब तक पहला उछलकर नीचे कूदता है। इच्छाओं के बारे में भी ऐसा ही है। एक इच्छा की पूर्ती में हम जुट जाते हैं तब तक अन्य दस इच्छायें उत्पन्न होती रहती हैं। और फिर अपनी इच्छानुसार सामनेवाले पदार्थ का परिणमन या प्राप्ति नहीं होती। इसकारण यह जीव राग द्वेष करता है और निरंतर दुःखी ही होता रहता है। इसप्रकार इन्द्रियसुख दुःख ही है।

इससे विपरीत, अतीन्द्रिय सुख आत्मा में से उत्पन्न होता है इसलिए वह स्वाधीन, सहज और विषयातीत है। आत्मा को जानते समय अर्थात् शुध्दोपयोग में रागद्वेषरूपी विकल्प नहीं होने से जीव को निराकुलतारूप सुख अनुभव में आता है। इसे विषयजनित किसी भी सुख की उपमा नहीं दे सकते इसलिए यह अनुपम है। यह सुख बाधारहित है अर्थात् कम ज्यादा नहीं होता। संयोगजनित सुखदुःख सातावेदनीय या असातावेदनीय कर्म के उदय से हीनाधिक होता रहता है। परंतु आत्मा में उत्पन्न होनेवाले सुख को इन कर्मों का उदय रोक नहीं सकता।

ऐसा अनुपम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करना कौन नहीं चाहेगा? छहढ़ाला में कहा है -

'' आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलताबिन कहिए।
आकुलता शिवमाँहि न, तातै शिवमग लाग्यौ चहिए ।।''

आकुलतारहित सुख मोक्ष में होने से जीवों को मोक्षमार्ग में लगना चाहिए यही सच्ची उपलब्धि है, यही लाभ है। लौकिक में पैसों का - सम्पत्ति का लाभ होनेपर भी झंझट और आकुलता कहाँ समाप्त होती है? पैसों का हिसाब रखो, फिर उसपर आयकर भरो, आयकर कम करने के लिये कानून की बारिकाईयाँ जानकर उसके लिये बहुत सारी मेहनत और चिंता करो। आत्मिक सुख में तो कोई 'कर' यानि टैक्स नहीं भरना पड़ता, पूरा नगद व्यवहार और वह भी टैक्स फ्री। छोटे बड़े, अमीर - गरीब, स्त्री पुरुष इतना ही नहीं संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी इस आत्मसुख का अनुभव ले सकते हैं। उसके लिये व्रत, उपवास,

यात्रा करने की भी कोई जरूरत नहीं है। इसप्रकार के आत्मिक सुख का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है।

सम्यग्दर्शन तथा आत्मानुभूति के विषयपर हमने पूर्व में तीनों पुस्तकों में विस्तृत चर्चा की ही है। अब हमारा विषय है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पूर्व और प्राप्त करते समय जीव के परिणाम कैसे होते हैं और तब कर्मों में कैसी उथलपुथल हो जाती है। हमें इन सब बातों को जानना है। उसके लिये कर्मसंबंधी प्राथमिक जानकारी से हम प्रारंभ करेंगे। तुम यह मत समझना कि पंचलब्धि का विषय छोड़कर मैंने 'कर्मकाण्ड' पढ़ाना शुरू किया है।

प्रत्येक जीव अनादि से ही कर्म से बध्द - बंधी हुयी अवस्था में पाया जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि जीव पहले शुध्द था और बाद में उसने कर्म को बांधा हो। जिसतरह सोने की खदान में सोना सुवर्णपाषाण के रूप में पाया जाता है, उसी प्रकार जीव और कर्म अनादि से ही एक दूसरे से बध्द अवस्था में पाये जाते हैं। फिर भी दोनों द्रव्यों का अस्तित्व भिन्न ही रहता है। तुम तो जानती ही हो कि कर्म पुद्गल द्रव्य है और कार्माणवर्गणा नामक पुद्गल स्कंधों से वह बना हुआ है।

कर्म बांधना अर्थात् कर्म का बंध होना। जीव स्वयं, स्वयं में, स्वयं की योग्यता से मोह, राग, द्वेष रूप परिणमन करता है, उस समय कार्माणवर्गणा स्वयं, स्वयं की योग्यता से कर्मरूप अवस्था धारण करती है और उनका जीव के साथ संश्लेष संबंध होता है। अर्थात् जीव के असंख्यात प्रदेशों में यह कर्म एकक्षेत्रावगाह संबंध से रहता है। विवक्षित काल के बाद कर्म फिर से अकर्मरूप होता है, अन्य पुद्गल स्कंधरूप होता है और उस समय कर्म का फल मिलता है। उसे कर्म का उदय हुआ अथवा निर्जरा हुयी अथवा कर्म खिर गया कहते हैं। यह सामान्य निर्जरा है। यह मोक्षमार्ग में होनेवाली संवरपूर्वक की निर्जरा नहीं है।

कर्म के उदय के समय कर्म का फल मिलता है। उस फल में जीव इष्ट अनिष्टपना की कल्पना करके मोह, राग, द्वेष करता है और नित्य नया कर्म बंधता रहता है।

बेटियों, हम भी अनादिकाल से प्रत्येक समय में नये नये कर्म बांधते आ रहे हैं और पूर्वबध्द कर्मों के फल भी प्रत्येक समय में भोगते आ रहे हैं। प्रत्येक समय में पुराने कर्म का उदय और नये कर्म का बंध होता रहता है और इसप्रकार जीव के साथ कर्मों की सत्ता निरंतर बनी रहती है।

यह जीव निरंतर विभिन्न प्रकार के परिणाम करता है और उसके निमित्त से विभिन्न कर्म बांधता है जिसके फलस्वरूप वह चार गति और ८४ लाख योनियों में भटकता रहता है, जन्म मरण के फेरे करता हुआ घूमता रहता है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के विविध पर्यायों में जन्म लेता हुआ यह जीव स्वयं को उस पर्यायरूप ही अनुभव करता है।

इसतरह यह जीव 'पर्यायमूढ़' होकर, भिखारी बनकर परद्रव्यों से सुख की भीख मांगते हुये दरदर भटकता है। अपनी इस दयनीय अवस्था का हमें भान हो जाये तो रोना आ जाये परंतु स्वयं की मूर्खता के कारण, अज्ञानता से इसी में सुख मानकर यह जीव स्वयं को बड़ा मानता है, सुखी मानता है।

पर्यायमूढ़ का अर्थ होता है प्राप्त पर्याय में एकत्वबुध्दि। मनुष्यपर्याय का जीव स्वयं को मनुष्य मानता है और तिर्यंचपर्याय का जीव स्वयं को तिर्यंच मानता है। उस उस शरीर से स्वयं के भिन्न अस्तित्व से वह अनजान रहता है।

अत्यंत दुर्लभ मनुष्यभव और महादुर्लभ जिनवाणीश्रवण का सौभाग्य प्राप्त होनेपर भी धनसम्पत्ति की लालसा ने इस जीव को वश किया है। लालसारूपी भूत इसके गर्दनपर सवार होकर दिनरात इससे बैल, घोडा आदि जानवरों की भांति काम करवाता है। देखो तो इसकी दुर्दशा, जानवरों को भी दो वक्त दानापानी और रात में नींद नसीब होती है परंतु यह उल्लू जीव खाने पीने की, नींद की पर्वा किये बिना सम्पत्ति इकट्ठी करने के लिये दौड़ रहा है। भिखारी चार आठ आने की भीख मांगता है परंतु यह तो बड़ा भिखारी है। इसकी लालसा तो कभी समाप्त ही नहीं होती।

यह जीव बहाना बनाता है कि मैं तो बीबी बच्चों के लिये मेहनत कर रहा हूँ परंतु क्या इसे बीबी बच्चों की तरफ देखने की भी फुरसत है? आत्मिक शांति और आत्मचिंतन की बात तो दूर ही रही।

हां, तो हम कर्मबंधसंबंधी चर्चा कर रहे थे। जीव के साथ कर्म बंधा हुआ है, प्रचंड प्रमाण में उसकी सत्ता कायम बनी रहती है। उसमें से प्रतिसमय पुराने कुछ कर्म निकल जाते हैं अर्थात् उदय में आते हैं और प्रतिसमय नये कर्म बंधते हैं। प्रत्येक समय में अनंत कर्मपरमाणु बंधते हैं - बध्द होते हैं उनकी संख्या को 'समयप्रबध्द' कहते हैं। पूर्वबध्द कर्म में से उतने ही - अनंत परमाणु उदय में आकर निकल जाते हैं।

सामान्यपने हम कहते हैं कि कर्म बंधा या कर्म उदय में आया परंतु उन कर्मों की विभिन्न आठ जाति हैं, उनके स्वभाव अर्थात् प्रकृति अर्थात् कार्य भिन्न भिन्न हैं, उन्हें 'कर्मप्रकृति' कहते हैं। इन आठ कर्मप्रकृतियों को मूलप्रकृति कहते हैं। उनके नाम निम्नप्रकार हैं -

(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) मोहनीय (४) अंतराय (५) वेदनीय (६) आयु (७) नाम (८) गोत्र।

उनके स्वभाव के अनुसार ये नाम हैं। उसकी हम चर्चा करेंगे।

(१) ज्ञानावरण का अर्थ है ज्ञानपर आवरण। जो कर्म ज्ञानपर आवरण ड़ालता है अर्थात् ज्ञानगुण की शक्ति ज्ञानपर्याय में पूर्णरूप से प्रकट नहीं होने देता वह ज्ञानावरण कर्म है। बेटियों, अब यहाँ कथन तो इसतरह से निमित्त का ही किया जायेगा कि निमित्त ने कार्य किया अर्थात् ज्ञानावरण कर्म ने ज्ञानपर आवरण ड़ाला परंतु यहाँ जीव और कर्म यानि पुद्गल इन दो द्रव्यों की भिन्नता एवं स्वतंत्रता हमेशा ख्याल में रखकर ही इस विधान का अर्थ समझना इष्ट है। नहीं तो, कर्म को जीव का भला बुरा करनेवाला मानोगी तो पराधीनता की कल्पना से दुःखी बनोगी।

योग्य अर्थ ग्रहण करने की जिम्मेदारी अब तुम्हारी है क्योंकि इस विषयपर विस्तृत विवेचन हम पूर्व में 'कारण कार्य रहस्य' पुस्तक में कर चुके हैं।

शास्त्र में आठ कर्मों का स्वरूप दृष्टांत देकर समझाया है। जिसतरह देवता की मूर्ति का मुख वस्त्र से ढ़का हुआ हो तो वस्त्र के कारण हमें मूर्ति का विशेष ज्ञान नहीं हो सकता, उसतरह ज्ञानावरण कर्म ज्ञानपर आवरण ड़ालता है।

(२) दर्शनावरण कर्म दर्शनपर आवरण ड़ालता है अर्थात् दर्शनगुण की शक्ति उसकी पर्याय में पूर्णरुप से प्रकट नहीं होने देता। जिसतरह राजद्वार में खड़ा द्वारपाल राजा को मिलने देने से इन्कार करता है - राजा को देखने नहीं देता, उसतरह दर्शनावरण कर्म दर्शनपर आवरण ड़ालता है। दर्शन का अर्थ सामान्य अवलोकन करना यह बात तो तुम्हें विदित ही है।

(३) मोहनीय कर्म जीव को मोहित करता है, असावधान करता है। जिस तरह मद्य या अन्य मादक पदार्थों का सेवन करने से जीव बेभान होता है, उसकी मति मोहित होती है; उसतरह मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित करता है।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं - (१) दर्शनमोहनीय (२) चारित्रमोहनीय

दर्शनमोहनीय के मिथ्यात्व कर्म के उदय में जीव को मिथ्यात्व होता है - श्रध्दा गुण का विपरीत परिणमन होता है।

चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में जीव का क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ नोकषायरूप परिणमन होता है। जीव जब स्वयं ही रागद्वेषरूप परिणाम करता है तब चारित्रमोहनीय कर्म का उदय पाया जाता है। कर्म जीव को जबरदस्ती से रागद्वेषरूप नहीं परिणमाता।

(४) अंतराय कर्म विघ्न अर्थात् बाधा ड़ालनेवाला कर्म है। दातार और पात्र में अंतर ड़ाले वह अंतराय है। जिसतरह राजा किसी को दान देना चाहता है परंतु उसका भण्डारी उसे रोकता है, दान देने में बाधा ड़ालता है, उसतरह अंतराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य जीव के गुण हैं। अंतराय कर्म के निमित्त से उनकी शक्ति पर्याय में पूर्ण प्रकट नहीं हो सकती। स्वभावपर्याय से उत्पन्न आनंद का दान स्वयं को देना, उसका लाभ होना, उसका भोग करना, उसीका बारम्बार उपभोग करना आदि इन गुणों के कार्य हैं। पुरुषार्थ वीर्य गुण की पर्याय है। स्वरूप की रचना पर्याय में करना वीर्य गुण का कार्य है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय इन चार कर्मों को घातिकर्म कहते हैं। शेष चार कर्मों को अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों को अघातिकर्म कहते हैं।

(५) वेदनीय कर्म के निमित्त से अनुकूल या प्रतिकूल संयोग मिलते हैं और मोहनीय कर्म के निमित्त से जीव उनमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करके सुखी दुःखी होता है। सुख - दुःख का अनुभव करानेवाला वेदनीय कर्म है। जिसतरह मध से लिप्त तलवार की धार सुख - दुःख को कारण होती है उसतरह वेदनीय कर्म जीव को सुख - दुःख उत्पन्न कराता है। यह सच्चे आत्मिक सुख की बात नहीं है परंतु इन्द्रिय और मनजनित सुख दुःख की बात है।

(६) आयुकर्म के निमित्त से जीव विवक्षित पर्याय में - गति में जीवन व्यतीत करता है। पर्याय यानि भव धारण करने के निमित्त से जो प्राप्त हो वह आयु है। जिसतरह बंदिगृह में कैदी को शृंखला से बांधते हैं या लकड़ी के खोड़े में उसका पैर बांध देते हैं जिसकारण वह कैदी अपना स्थान छोड़कर कहीं जा न सके, उसी जगह स्थित रहे, उसतरह आयुकर्म जीव को विवक्षित पर्याय में - मनुष्यपर्याय, तिर्यंचपर्याय आदि में स्थित रखता है - मरने नहीं देता, अन्य पर्याय धारण करने नहीं देता।

(७) नामकर्म के उदय से शरीरादिक संबंधी रचना होती है। नाना प्रकार का अर्थात् अनेक प्रकार का कार्य उत्पन्न करे वह नामकर्म है। जिसतरह चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र चितारता है उसतरह नामकर्म जीव को नरनारकादि अनेकरूप बनाता है।

(८) गोत्रकर्म के निमित्त से जीव को उच्च या नीच गोत्र प्राप्त होता है। जिसतरह कुम्हार मिट्टी की बड़ी या छोटी चीजें बनाता है, मूल्यवान या कम मूल्य की हलकी चीजें बनाता है, उसतरह गोत्र कर्म जीव को उच्च या नीच दशा को प्राप्त कराता है।

इन सब बातों की चर्चा हमने 'करणानुयोग परिचय' में की थी, यहाँ केवल उनका उल्लेख कर रहे हैं। उस पुस्तक में से दुबारा पढ़ना।

बेटियों, हम जब कहते हैं कि कर्म का बंध होता है तब चार प्रकार से उसका वर्णन करने में आता है - (१) प्रकृतिबंध (२) प्रदेशबंध (३) स्थितिबंध (४) अनुभागबंध।

कर्म की कौनसी प्रकृति बंधी, उसे प्रकृतिबंध कहते हैं। अभी हमने कर्म की आठ मूलप्रकृति देखी। उन प्रत्येक के अनेक भेद प्रभेद हैं, उन्हें 'उत्तर प्रकृति' कहते हैं। इन आठ मूलप्रकृतियों का बंध और उदय प्रतिसमय चलता रहता है, जिसमें अपवाद है आयु कर्म के बंध का। क्योंकि आयु कर्म का बंध तो कभी कभी होता है और शेष सात कर्मों का बंध प्रतिसमय होता है। इन सात कर्मों के उत्तर प्रकृतियों का बंध विवक्षित गुणस्थानों में और विवक्षित गति के जीवों में भिन्न भिन्न होता है। अब हम इन उत्तरप्रकृतियों के नाम सीखेंगे।

इसमें परेशान होने की कोई बात नहीं है। इसकी बारिकाईयाँ समझ में आती हैं, कौन से जीवों को कैसा कैसा बंध होता है, सम्यक्त्व होने से पूर्व और सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् उत्तर प्रकृति का बंध किसतरह से कम होता जाता है, बंध का अभाव किस विधि से होता है और कर्म किस विधि से नष्ट होता है आदि बातों का ज्ञान होनेपर संसार परिभ्रमण का रहस्य तो ख्याल में आता ही है परंतु उसमें से छूटने के मोक्षमार्ग का स्वरूप भी अच्छी तरह समझ में आता है। वैसे यह जानकारी रोचक भी है।

इसकी चर्चा अब आगामी पत्र द्वारा करेंगे।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

कर्म-उत्तरप्रकृति

पत्रांक २ १९ मई २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

'करणानुयोग परिचय' पुस्तकरूप स्वाध्याय के पश्चात् पुनश्च करणानुयोग संबंधी विषय जानने के लिये तुम दोनों उत्सुक हो यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुयी।

मूलप्रकृतियों का स्वरूप देखने के पश्चात् अब थोड़ी चर्चा उत्तरप्रकृतिसंबंधी करेंगे।

ज्ञानावरण कर्म की पांच उत्तरप्रकृति हैं। उनके नाम इसप्रकार हैं -

(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण
(४) मनःपर्ययज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण।

ज्ञान की पांच पर्यायों के नाम तो तुम्हें याद हैं ही, उसके आगे आवरण शब्द जोड़ दो तो उस विवक्षित ज्ञानपर आवरण ड़ालनेवाली कर्मप्रकृति का नाम भी सहज याद हो जाता है।

दर्शनावरण की नौ उत्तरप्रकृति हैं। तुम पूछोगी, 'दर्शनगुण की तो हमें चार ही पर्यायें पता है, तो दर्शनावरण की प्रकृति नौ कैसे हो सकती हैं?'

अच्छा प्रश्न है। दर्शनगुण की चार पर्यायें हैं - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। उसके साथ आवरण शब्द जोड़ने से दर्शनावरण की चार उत्तर प्रकृति इसतरह होगी -

(१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण
(४) केवलदर्शनावरण।

इनके अतिरिक्त निद्रा कर्म की पांच प्रकृति हैं। अत्यंत गाढ़ी निद्रा से तरल निद्रा तक के कर्मों के नाम निम्नप्रकार हैं -

(१) स्त्यानगृध्दि (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचलाप्रचला (४) निद्रा (५) प्रचला।

स्त्यानगृध्दि दर्शनावरण कर्म के उदय में जीव को गाढ़ निद्रा आती है, जगाने पर भी नहीं उठता, सोते रहता है। नींद में ही अनेक कार्य करता है, बोलता है, किसी भी प्रकार की सावधानी नहीं रहती।

निद्रानिद्रा कर्म के उदय में आँखें खोलने में असमर्थ रहता है। प्रचलाप्रचला कर्म के उदय में, नींद में मुँह से लार बहती है, हाथ पैर हिलते हैं। निद्रा कर्म के उदय में चलनेवाला खड़ा रहता है, खड़ा था वह बैठता है या लेट जाता है। मद, खेद आदि मिटाने के लिये वह सोता है। प्रचला कर्म के उदय में जीव आधाअधुरा सोता है अर्थात् सोते हुये भी थोड़ा थोड़ा जानता है, बारम्बार हल्की नींद आती है, आँखें अधखुली रखकर सोता है।

शेष चार दर्शनावरण कर्मों के कार्य व शब्द का अर्थ तो उनके नाम से ही तुम पहचान गयी होगी।

मोहनीय कर्म के दो प्रकार हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। उनमें से दर्शनमोहनीय कर्म की तीन उत्तरप्रकृति हैं।

(१) मिथ्यात्व (२) सम्यग्मिथ्यात्व (३) सम्यक् प्रकृति।

इन तीनों में से बंध तो केवल मिथ्यात्व प्रकृति का ही होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में इसी के तीन टुकड़े हो जाते हैं। उनकी विस्तृत चर्चा भविष्य में करेंगे ही।

चारित्रमोहनीय कर्म की पच्चीस उत्तरप्रकृति हैं। जीव के कषाय और नोकषायों के नाम तथा इन प्रकृतियों के नाम एक ही हैं। जीव के रागादि भावों को कषाय कहते हैं और इन प्रकृतियों को कषायकर्म कहते हैं। जैसे, जीव में क्रोध कषाय होता है और कर्म में क्रोध कर्म होता है। इनके नाम तो तुम जानती ही हो। वे इसप्रकार हैं -

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ	-	४ कषायकर्म
अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ	-	४ कषायकर्म
प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ	-	४ कषायकर्म

संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ - ४ कषायकर्म

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा - ६ नोकषायकर्म

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद - ३ नोकषायकर्म

इसतरह कुल पच्चीस भेद हैं।

अंतराय कर्म की पांच उत्तरप्रकृति हैं। वे इसप्रकार हैं -

(१) दानांतराय (२) लाभांतराय (३) भोगांतराय (४) उपभोगांतराय (५) वीर्यांतराय।

दानादि पांच गुणों के नाम तो हमने पहले देखे ही थे। उसके साथ अंतराय शब्द जोड़कर ये पांच नाम तुम्हारे सहज ही ख्याल में रहेंगे।

वेदनीय कर्म की दो उत्तरप्रकृति हैं।

(१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।

रति मोहनीय कर्म के उदय में इन्द्रियविषयों में सुख उत्पन्न कराता है वह सातावेदनीय कर्म है और अरति मोहनीय कर्म के उदय में इन्द्रियविषयों में दुःख उत्पन्न कराता है वह असातावेदनीय कर्म है।

आयुकर्म की चार उत्तरप्रकृति हैं (१) मनुष्यायु (२) देवायु (३) तिर्यंचायु (४) नरकायु।

नाम कर्म की त्र्याणवे (९३) उत्तरप्रकृति देखने के पहले गोत्रकर्म की दो उत्तरप्रकृति देखेंगे। वे इसप्रकार हैं -

(१) उच्चगोत्र (२) नीचगोत्र।

नामकर्म की उत्तरप्रकृति की त्र्याणवे संख्या से घबराने की कोई जरूरत नहीं है। उसमें पिंडप्रकृति अर्थात ग्रुप्सवाली प्रकृति चौदह हैं और अन्य अपिंडप्रकृति अट्ठाईस हैं उनमें भी युगल यानि जोड़ी जोड़ी में याद करेंगे तो बहुत ही आसानी से याद हो जाता है।

अब पहले उनके नाम लिखकर पश्चात् उनका स्वरूप देखेंगे।

(१) गति - ४	(२) जाति - ५	(३) शरीर - ५
(४) बंधन - ५	(५) संघात - ५	(६) संस्थान - ६
(७) संहनन - ६	(८) अंगोपांग - ३	(९) स्पर्श - ८
(१०) रस - ५	(११) गंध - २	(१२) वर्ण - ५
(१३) गत्यानुपूर्वी - ४	(१४) विहायोगति - २	(१५) अगुरुलघु
(१६) उपघात	(१७) परघात	(१८) उच्छ्वास
(१९) आतप	(२०) उद्योत	(२१) त्रस
(२२) स्थावर	(२३) बादर	(२४) सूक्ष्म
(२५) पर्याप्त	(२६) अपर्याप्त	(२७) प्रत्येक
(२८) साधारण	(२९) स्थिर	(३०) अस्थिर
(३१) शुभ	(३२) अशुभ	(३३) सुभग
(३४) दुर्भग	(३५) सुस्वर	(३६) दुस्वर
(३७) आदेय	(३८) अनादेय	(३९) यशस्कीर्ति
(४०) अयशस्कीर्ति	(४१) तीर्थंकर	(४२) निर्माण।

इसमें पहली चौदह तो पिंड प्रकृति हैं और बहुत सारी जोड़ी हैं। थोड़े अभ्यास से सहज याद हो जायेगी। इनका अर्थ जानने के लिये तुम उत्सुक होगी। परंतु उसके पूर्व उन्हें जानने का प्रयोजन ख्याल में रखना चाहिए। शरीर के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आकार, गति, इन्द्रियां, हड्डीयों की रचना तथा मजबूती, चाल, आवाज, आदि अनेक बातें नामकर्म के उदय के निमित्त से होती हैं इस बात का पता चलने से 'शरीर ही मैं हूँ' ऐसी अनादिकाल से चली आ रही मिथ्या मान्यता सहज ही नष्ट हो जाती है।

कर्मप्रकृति के नाम याद करके अपनी बुध्दि की करामत कर दिखाना अपना प्रयोजन नहीं परंतु इन कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली बातों से मैं स्वयं भिन्न हूँ इसप्रकार से भेदविज्ञान करना ही हमारा एकमेव प्रयोजन है।

शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न है और जीव भिन्न है। प्रत्येक का स्वयं का परिणमन स्वयं में स्वयं के कारण से होता है। परंतु उनमें निमित्त नैमित्तिक संबंध पाया जाता है इसलिए नामकर्म के कारण शरीर की रचना हुयी या जीव ने कर्म बांधा आदि कथन करते हैं। इसतरह का कथन आनेपर भी प्रत्येक परमाणु एवं जीव की स्वतंत्रता अपने ध्यान में रखनी चाहिए।

तुम कहोगी, 'नामकर्म के कारण शरीर की विशिष्ट रचना होती है ऐसा आप कहती हो। हम तो आजकल प्रत्यक्ष देख - सुन रहे हैं कि हमारे वैज्ञानिक उनकी प्रयोगशाला में चाहे जिस वर्णादि के शरीरवाले जीव उत्पन्न कर रहे हैं, टेस्ट ट्यूब बेबीज और क्लोन्स की निर्मिति हो रही है, तो तुम्हारे कर्मों का क्या हुआ?'

बेटियों, सब से पहले यह बात नक्की करो कि कर्मसंबंधी यह ज्ञान या कथन हमें सर्वज्ञ से प्राप्त हुआ है, मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कह रही। दूसरी बात, वैज्ञानिकों ने जीव का निर्माण किया या शरीरादि पुद्गलों का? अस्तित्व गुण, जो कि सामान्य गुण है इसलिए सभी द्रव्यों में पाया जाता है, उसके कारण द्रव्य का कभी भी नाश नहीं होता और वह किसी से उत्पन्न भी नहीं होता। इस विषय में हमने बहुत विस्तार से समझा भी था। इसलिए वैज्ञानिकों ने ना जीव को उत्पन्न किया और ना ही शरीर को उत्पन्न किया। वह जीव कहीं से मरकर उस जगह स्वयं की योग्यता से जन्मा है। कभी भी कोई भी जीव नया उत्पन्न ही नहीं होता।

तुम कहोगी, ' वैज्ञानिकों ने उसके शरीर की रचना तो अपनी इच्छानुसार कर दिखायी ना?'

शरीर पुद्गल स्कंध है। आहारवर्गणा से उसकी रचना होती है। आहार वर्गणा अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं का स्कंध है। तो अब तुम मुझे बताओ कि वैज्ञानिकों ने पुद्गल परमाणु उत्पन्न किये या उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुण तैयार किये या उनकी पर्यायें बनायी?

तुम कहोगी, 'द्रव्य और गुणों को कोई बनाता नहीं है, वे तो अनादिअनंत कायम रहते हैं। इसलिए उन्होंने उन्हें चाहिए वैसी पर्यायें उत्पन्न की। देखो ना,

उन्होंने हरे रंग का खरगोश उत्पन्न किया। बिल्कुल एक सदृश मेंढ़े तैयार किये।'

बेटियों, हम पहले पढ़ चुके हैं और सिध्द भी कर चुके हैं कि प्रत्येक द्रव्य या गुण की प्रत्येक पर्याय उनके स्वसामर्थ्य से उत्पन्न होती है, प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की अनादिअनंत अवस्थायें सुनिश्चित हैं। कोई भी द्रव्य स्वयं की पर्याय को भी करे और दूसरे द्रव्य की पर्याय को भी करे यह बात तीन काल में कभी संभव नहीं है। वैज्ञानिक स्वयं का (आत्मा का) कार्य भी करे और उनके शरीर का भी कार्य करे यह बात भी असंभव है, तो फिर अन्य जीवों के शरीर वे अपनी इच्छानुसार चाहे वैसे बना दे यह मान्यता तो महामिथ्यात्व की द्योतक है।

वैज्ञानिक भी खोज़ करते हैं - जो उन्हें पता नहीं था उससंबंध में जानकारी हासिल करते हैं, कुछ बनाते तो हैं नहीं। वे ना तो नवीन द्रव्य उत्पन्न करते हैं, ना उनमें नये गुण मिलाते हैं और ना ही उनकी पर्यायें अपनी मर्जी के अनुसार बदलते हैं। वे वैसा कर ही नहीं सकते।

वैज्ञानिकों और उनके प्रयोगों की तुम सराहना करती हो या उनके बारे में आदरबुध्दि रखती हो, क्या तुम्हें पता भी है कि महान हिंसापूर्वक इन क्लोन की उत्पत्ति होती है?

जिसे 'एम्ब्रियो' (गर्भ) कहते हैं उसमें से विवक्षित पेशी (सेल्स) या टिश्यू निकाल कर उनपर प्रयोग किये जाते हैं। बहुत सारे एम्ब्रियो व्यर्थ नष्ट हो जाते हैं तब चाहे वैसे सेल्स या टिश्यू हाथ लगते हैं। एम्ब्रियो गर्भ को कहते हैं। भले वह माता के उदर में पल रहा हो या टेस्ट ट्यूब में परंतु वह है तो एक पर्याप्त मनुष्यभव। एक खून करनेवाले को कानून दण्ड देता है परंतु संशोधन के नाम पर हजारों एम्ब्रियो पैदा करके नष्ट किये जाते हैं। इसलिए इसप्रकार के संशोधन में आदरबुध्दि का होना महान हिंसा की अनुमोदना करना है जिसमें स्वयं हिंसा करने जितना ही पाप लगता है।

तुम दोनों ने 'एम्ब्रियॉलॉजी' विषय पढ़ा है। मोना तुमने तो मेडिकल में पढ़ा है, रीना तुम भी चाइल्ड डेव्हलपमेंट विषय में इसके बारे में पढ़ चुकी हो। मुझे

याद है रीना ने एक बात मेरे निदर्शन में लायी थी - उसपर विचार करने को मुझे प्रेरित किया था। गर्भनिरोधन के लिये 'कॉपर टी' का इस्तेमाल होता है उसके कारण गर्भ गर्भाशय में टिक नहीं सकता, निकल जाता है। अर्थात् गर्भधारणा तो होती है परंतु प्रतिकूल परिस्थिति के कारण वह टिक नहीं सकता। रीना ने तब पूछा था कि कॉपर टी लगाने की सलाह देना गर्भपात जितना ही महापाप होता है ना?

देखो तो, किसी विषयसंबंधी सविस्तार जानकारी हासिल करने पर उसके योग्य - अयोग्य का निर्णय हम स्वयं कर सकते हैं। यहाँ भी कर्मसंबंधी विस्तृत जानकारी हासिल करने का प्रयोजन यही है कि उसके द्वारा कर्मों से भिन्न निजशुध्दात्मा की हमें पहचान हो। आज तक कर्म के उदय में प्राप्त होनेवाली चीजों को ही हमने अपना स्वरूप और वैभव मान रखा था। उनसे भिन्न मैं एक महान वैभवधारी पदार्थ हूँ इस बात को जाना ही नहीं था, सुना भी नहीं था इसलिए माना भी नहीं था।

नामकर्म के कारण शरीर की विशिष्ट रचना होती है यह भी निमित्त का कथन है। बहुत पहले हमने सीखा था कि योग के निमित्त से जीव कर्म और नोकर्म का ग्रहण करता है। जरा विचार तो करो कि जब तक हम मनुष्यगति में हैं तब तक औदारिक शरीर के परमाणुओं को ही क्यों ग्रहण करते हैं? वैक्रियिक जाति के परमाणु क्यों नहीं ग्रहण करते? गोरा आदमी गोरे वर्ण के परमाणु क्यों ग्रहण करता है? काला आदमी काले वर्ण के परमाणु ही क्यों ग्रहण करता है?

इसका कारण है विवक्षित नामकर्म का उदय। मनुष्य और तिर्यंचों को औदारिक शरीर नामकर्म का उदय विद्यमान रहता है इसलिए वे औदारिक जाति के परमाणु ग्रहण करते हैं। उसके साथ साथ विवक्षित स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नामक नामकर्म के उदय में विवक्षित उसी प्रकार के परमाणु ग्रहण किये जाते हैं। परंतु इसे नामकर्म के निमित्त से होनेवाली पुद्गल की अवस्था न जानकर अज्ञानी जीव इन्हें ही अपना स्वरूप जानता है, मानता है।

समयसार परिशिष्ट के प्रवचन में पूज्य श्री कानजी स्वामीजी कहते हैं -

''अज्ञानी जीव स्वयं के अस्तित्व को न पहचान कर, न मान कर परद्रव्यों के भाव अर्थात् पर्यायें ही मैं हूँ मानता है। ज्ञान में तो जड़ और चेतन दोनों ही भाव जानने में आते हैं। परंतु अचेतन भाव अर्थात् स्पर्शादि यही मेरा अस्तित्व है इसतरह अज्ञानी मानता है। मेरा शरीर, मेरा फोटो, मेरा घर, मेरे कपड़े ऐसा ही इसने आज तक माना है और इन चीजों को जुटाने और टिकाने में ही इसके अनंत भव बरबाद हो गये हैं। स्वयं में ज्ञान, दर्शन, आनंद, शांति आदि अनंत भाव हैं उन्हें न मानकर, अचेतन भावों को अपना मानकर यह अज्ञानी अचेतन हुआ है, उसने अपने चैतन्य का नाश किया है।'' अर्थात् आत्मघात किया है। आत्मघाती तो महापापी होता है, है ना? वे कहते हैं -

''ज्ञानी धर्मी जीव मानते हैं कि स्वभाव और परभाव को जाननेवाला मैं हूँ परंतु मैं परभावरूप नहीं हूँ। अपने ज्ञान में - अपने भाव में परभाव जाने जाते हैं यह अपना स्वयं का भाव है।''

इन बातों को ध्यान में रखकर अब हम नामकर्म की त्र्याणवे उत्तरप्रकृति का स्वरूप एवं कार्य के बारे में चर्चा करेंगे। मुझे पता है तुम भी इन्हें जानने के लिये उत्सुक हो। लब्धि के प्रकरण में इन प्रकृतियों के संबंध में चर्चा होगी तब उलझन न हो इस हेतु अभी इनकी चर्चा मैं आवश्यक समझती हूँ।

गति नामकर्म - जिसके उदय में आत्मा एक पर्याय से पर्यायांतर में - अन्य पर्याय में जाता है - गमन करता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। जिसके उदय से नरकपर्याय होती है वह नरकगति नामकर्म है। जिसके उदय से तिर्यंचपर्याय होती है वह तिर्यंचगति नामकर्म है। जिसके उदय से मनुष्यपर्याय होती है वह मनुष्यगति नामकर्म है। जिसके उदय से देवपर्याय होती है वह देवगति नामकर्म है।

जाति नामकर्म - जाति नामकर्म पांच प्रकार के हैं - एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजाति नामकर्म। जितने भी एकेन्द्रिय जीव हैं उनमें एकेन्द्रिय अस्तित्व की अपेक्षा समानता है, यह सादृश्यभाव कहलाता है। एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय समानरूप होकर एक दूसरे में मिल नहीं सकते इसलिए इसे अव्यभिचारी कहते हैं। अव्यभिचारी

सादृश्यभाव के आधार से जीवों को इकट्ठा करते हैं, उनका ग्रुप बनाते हैं उसे 'जाति' कहते हैं।

जिस कर्म के उदय में जीव एकेन्द्रिय कहलाता है उसे एकेन्द्रियजाति नाम कर्म कहते हैं। वर्तमान में हमारे पंचेन्द्रियजाति नामकर्म का उदय चल रहा है और हम पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

देखो तो, अपने रागद्वेषादि परिणामों के कारण विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार के गति और जाति नामकर्म बंधते हैं और उनके उदय में वैसी अवस्था प्राप्त होती है। जीवत्व शक्ति की अपेक्षा सर्व जीव समान होनेपर भी विविध जीव विविध अवस्थाओं में पाये जाते हैं - चार गति और पांच जाति में पाये जाते हैं। जीवों की इन विभिन्न पर्यायों को तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं। कुछ लोग तो कर्म के अस्तित्व का ही इन्कार करते हैं। आठ कर्मों के उदय में जीवों को जो भिन्न भिन्न फल, भिन्न भिन्न संयोग प्राप्त होते हैं उनके आधार से कर्म का अस्तित्व सहज सिध्द होता है।

शरीर नामकर्म - जिसके उदय में शरीर की उत्पत्ति होती है, वह शरीर नामकर्म है। यह पांच प्रकार का है -

(१) औदारिकशरीर नामकर्म (२) वैक्रियिकशरीर नामकर्म
(३) आहारकशरीर नामकर्म (४) तेजसशरीर नामकर्म
(५) कार्माणशरीर नामकर्म।

बंधन नामकर्म - उस उस शरीर के नाम का बंधन नामकर्म है। यह भी पांच प्रकार का है।

(१) औदारिकबंधन नामकर्म (२) वैक्रियिकबंधन नामकर्म
(३) आहारकबंधन नामकर्म (४) तेजसबंधन नामकर्म
(५) कार्माणबंधन नामकर्म।

शरीर नामकर्म के उदय में आहारवर्गणादिरूप पुद्गल स्कंधों का ग्रहण किया जाता है। उनके प्रदेशों का परस्पर संश्लेष संबंध जिसके उदय में होता है वह बंधन नामकर्म है।

संघात नामकर्म - जिसके उदय में औदारिकादि शरीर छिद्ररहित एकक्षेत्रावगाहरूप से एकत्वपना प्राप्त करता है उसे औदारिकादि संघात नामकर्म कहते हैं। शरीर के नाम के ही ये पांच संघात नामकर्म हैं।

(१) औदारिकसंघात नामकर्म (२) वैक्रियिकसंघात नामकर्म

(३) आहारकसंघात नामकर्म (४) तेजससंघात नामकर्म

(५) कार्माणसंघात नामकर्म।

संस्थान नामकर्म - जिसके उदय में औदारिकादि शरीरों का आकार उत्पन्न होता है उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। वह छह प्रकार का है।

(१) समचतुरस्र संस्थान - समान चौकोर आकार - सुड़ौल आकार।

(२) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान - वटवृक्षसमान ऊपर का भाग चौड़ा और नीचे का भाग पतला।

(३) स्वाति संस्थान - ऊपर का भाग पतला और नीचे का भाग चौड़ा।

(४) कुब्जक संस्थान - जिसे हम कुबड़ा कहते हैं।

(५) वामन संस्थान - ठिंगना।

(६) हुंडक संस्थान - अनेक प्रकार के अवक्तव्य आकार।

अंगोपांग नामकर्म - जिसके उदय में शरीर में अंग और उपांग भेद पड़ते हैं वह अंगोपांग नामकर्म है। स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में इसका उदय नहीं रहता। त्रस जीवों में ही इसका उदय पाया जाता है। अंग यानि मुख्य अवयव - हाथ, पैर, मस्तक आदि और उपांग यानि उंगलियां आदि छोटे अवयव। इसके तीन भेद हैं।

(१) औदारिक अंगोपांग (२) वैक्रियिक अंगोपांग (३) आहारक अंगोपांग।

संहनन नामकर्म - संहनन शब्द तुमने बहुत बार सुना होगा, अब उसका अर्थ तुम्हारे ख्याल में आयेगा। जिसके उदय में हड्डियों की विशिष्ट मजबूती और उनके बंधन में - वेष्टन में विशेषता पायी जाती है उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। संहनन का अर्थ है हड्डियों का समूह। संहनन नामकर्म छह प्रकार

का है। उसके उदय में छह प्रकार का संहनन प्राप्त होता है। संहनन नामकर्म का उदय मनुष्यों में तथा द्वीन्द्रियादिक तिर्यंचों में पाया जाता है। एकेन्द्रियों में और देव, नारकी इनमें नहीं पाया जाता।

१. वज्रवृषभनाराच संहनन - जिस शरीर में वज्रमय हड्डियां, वज्रमय वेष्टन से वेष्टित हैं और वज्रमय नाराच द्वारा कीलित हैं उसे वज्रवृषभनाराच संहनन कहते हैं। जो वज्रसमान अभेद्य है उसे वज्र कहते हैं, वृषभ अर्थात् उसका बंधन और नाराच यानि कील। जैसे लोहे की कील लकड़ी में ठोकते हैं।

२. वज्रनाराच संहनन - जिस शरीर में हड्डियां तो वज्रसमान होती हैं परंतु वज्र का वृषभ अर्थात् बंधन नहीं पाया जाता, सामान्य वृषभ होता है और नाराच तो वज्रसमान होता है उसे वज्रनाराच संहनन कहते हैं।

३. नाराच संहनन - जिस शरीर में हड्डियों की संधी (जॉईंट्स) सामान्य नाराच द्वारा कीलित हैं परंतु वज्रसमान नाराच द्वारा नहीं है उसे नाराच संहनन कहते हैं।

४. अर्धनाराच संहनन - जिस शरीर में हड्डियों की संधी नाराच द्वारा अर्धकीलित हैं उसे अर्धनाराच संहनन कहते हैं।

५. कीलित संहनन - जिस शरीर में वज्र की हड्डियां नहीं हैं और वे परस्पर कीलित हैं, उसे कीलित संहनन कहते हैं।

६. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन - जिस शरीर में हड्डियां परस्पर में प्राप्त नहीं होती, सरीसृप की हड्डियों की भांति नसों द्वारा (सिराओं द्वारा) परस्पर में बंधी हुयी होती हैं, उसे असंप्राप्तासृपाटिका संहनन कहते हैं।

पूर्व में हमने निमित्त उपादान के प्रकरण में (कारण कार्य रहस्य पुस्तक में) देखा था कि चरमशरीरी जीवों को अर्थात् उसी भव में मोक्ष जानेवाले जीवों को पहला अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन होता है, उन जीवों को उस विशिष्ट

नामकर्म का उदय पाया जाता है। परंतु वह संहनन मोक्षप्राप्ति में मदद नहीं करता। सातवें नरक में जानेवाले मनुष्य और तिर्यंचों को भी वज्रवृषभनाराच संहनन होता है।

स्त्रियों में नीचे के तीन संहनन में से कोई एक पाया जाता है। वे उस पर्याय में तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती और छठवें नरक से आगे सातवें में भी जा नहीं सकती। करणानुयोग का ऐसा अकाट्य नियम होनेपर भी स्त्री पर्याय में से मोक्ष होता है मानना महान अज्ञान का द्योतक है।

वर्तमान में यहाँ भरतक्षेत्र में पंचमकाल - दुखमाकाल चल रहा है। इस काल में मनुष्य और तिर्यंचों को नीचे के तीन संहनन ही होते हैं। इसलिए पंचमकाल के मुनि श्रेणी चढ़ने का पुरुषार्थ भी नहीं करते। उसीप्रकार ग्रैवेयक में जानेवाले मुनि भी उत्तम संहनन (ऊपर के तीन) के धारी जीव होते हैं।

दूसरे और तीसरे संहनन के धारी जीव उपशम श्रेणी चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक का पुरुषार्थ कर सकते हैं परंतु क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ सकते। ऐसे ही निमित्त नैमित्तिक संबंध बनते हैं।

एक बात फिर से बता देती हूँ कि कोई भी संहनन जीव को पुरुषार्थ में साधक भी नहीं है, वैसे बाधक भी नहीं है। जीव और शरीर में तो अत्यंताभाव है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नामकर्म - जिन कर्मों के उदय के निमित्त से शरीर में विशिष्ट स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जाता है उन कर्मों को क्रमशः स्पर्शनामकर्म, रसनामकर्म, गंधनामकर्म और वर्णनामकर्म कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य के स्पर्शादि गुणों की बीस पर्यायें हमने सीखी थी, याद है? उसमें स्पर्श गुण की आठ पर्यायें, रस गुण की पांच पर्यायें, गंध गुण की दो पर्यायें और वर्ण गुण की पांच पर्यायें देखी थी, उनके साथ नामकर्म शब्द जोड़ने से बीस नामकर्म होंगे। वे इस प्रकार हैं -

स्पर्शनामकर्म आठ प्रकार का है - कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, शीतनाम, उष्णनाम, स्निग्धनाम, रुक्षनाम।

रसनामकर्म पांच प्रकार का है - तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम।

गंधनामकर्म दो प्रकार का है - सुरभिगंधनाम और दुरभिगंधनाम।

वर्णनामकर्म पांच प्रकार का है - कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, पीतवर्णनाम, श्वेतवर्णनाम।

गत्यानुपूर्वी नामकर्म - इसका कार्य देखोगी तो तुम्हें भी हंसी आयेगी। गति नामकर्म के साथ उसी नामवाला गत्यानुपूर्वी अर्थात् गतिप्रायोग्यानुपूर्वी कर्म भी बंधता है। जीव हर समय कोई ना कोई गति और गत्यानुपूर्वी कर्म बांधता ही रहता है। मनुष्यगति के साथ मनुष्यगत्यानुपूर्वी बंधती है वैसे ही अन्य गति के साथ भी जानना। परंतु मजे की बात तो यह है कि गति नामकर्म का उदय तो हर समय चलता रहता है परंतु गत्यानुपूर्वी का उदय केवल विग्रहगति में ही होता है। इसकारण इसे क्षेत्रविपाकी कर्म कहते हैं। विपाक यानि कर्म का फल अर्थात् उदय। दूसरा भव धारण करने के लिये जीव गमन करता है, मात्र उसी वक्त इसका उदय वर्तता है।

इस कर्म का कार्य क्या है पूछोगी, तो इसके निमित्त से जीव का पूर्वभव का आकार विग्रहगति में कायम रहता है। नूतन गति में ले जाने का कार्य भी इस कर्म के निमित्त से होता है।

ठीक नहीं समझी ना? ठहरो, दुबारा बताती हूँ। इस कर्म के चार प्रकार हैं - मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी या मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी और नरकगत्यानुपूर्वी।

जो जीव अन्यत्र मरकर मनुष्यगति में जन्म लेने के लिये गमन करता है उसके विग्रहगति में मनुष्यगत्यानुपूर्वी कर्म का उदय रहता है। मान लो, कोई कुत्ता मरकर मनुष्यगति में जन्म लेनेवाला है। विग्रहगति के पहले समय से ही उसकी मनुष्यायु चालू होती है - मनुष्यायु का उदय शुरू होता है, मनुष्यगति नामकर्म का भी उदय शुरू होता है। परंतु मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म के उदय

के कारण उसके पूर्वभव का कुत्ते का आकार कायम रहता है। मनुष्यशरीर धारण करने के पहले समय से उसका मनुष्य आकार होता है। है ना मजे की बात?

अब यदि मैं तुमसे पूछुं कि कुत्ते के आकार का मनुष्य कहाँ होता है या मनुष्य के आकार का घोडा कहाँ पाया जाता है तो तुम उलझन में नहीं पड़ोगी, है ना? इसतरह आगमचक्षु द्वारा - आगमरूपी नेत्रों द्वारा हम इन बातों को स्पष्टरूप से देख सकते हैं अर्थात् ज़ान सकते हैं। कुत्ता मरकर विग्रहगति के पहले समय से ही मनुष्यजीव कहलायेगा क्योंकि उसके मनुष्यायु और मनुष्यगति का उदय प्रारंभ हो गया है परंतु उसका आकार कुत्ते का ही रहता है। उसी प्रकार मनुष्य मरकर घोडा होता है तो विग्रहगति में वह घोडा जीव है परंतु उसका पूर्व का मनुष्य आकार कायम रहता है।

गत्यानुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति में अर्थात् मोड़वाली गति में पाया जाता है परंतु ऋजुगति से या सीधा गमन करके उसी समय में अन्य भव में पहुंचनेवाले जीव के इसका उदय नहीं पाया जाता।

तुम पूछोगी, 'ऐसा क्यों? और उस अन्य विशिष्ट गतिसंबंधी आकार कब प्राप्त होता है?'

दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है। संस्थान नामकर्म के उदय से जीव को उस विशिष्ट गतिसंबंधी आकार प्राप्त होता है। आहारपर्याप्ति के पहले समय से ही संस्थान नामकर्म का उदय प्रारंभ होता है और नया आकार प्राप्त होता है। ऐसा मत समझना की जहाँ जन्म लेना है वहाँ बना बनाया शरीर तैयार होता हो और जीव जाकर उसमें प्रवेश करता हो। जीर्ण वस्त्र को छोड़कर कोई नया वस्त्र - रेडिमेड अर्थात् बना बनाया वस्त्र पहनता है उसप्रकार यहाँ कोई रेडिमेड शरीर नहीं होता। जीव शरीरसंबंधी परमाणुओं को ग्रहण करता है और वे पिंडरूप होकर उस आकाररूप परिणमते हैं। हे जीव! शरीर के इस आकार पर मत रींझना, इनके स्पर्शादि को अपना स्वरूप मत मानना। इनका उपादान तो आहारवर्गणा है और निमित्त कर्म का उदय है। तुम्हारा इनका कोई भी संबंध है नहीं। इन्हें अच्छी तरह पहचानकर अपने से भिन्न जानो।

विहायोगति नामकर्म - विहाय यानि आकाश। आकाश में गमन वह विहायोगति है। परंतु पंछी की तरह आकाश में उड़ना या विग्रहगति में गमन करना ऐसा इसका अर्थ मत समझना। क्योंकि विग्रहगति में तथा अपर्याप्त अवस्था में इस कर्म का उदय नहीं पाया जाता। विहायोगति का अर्थ है 'चाल', जैसे हाथी की चाल, बदक की चाल आदि।

इसके दो भेद हैं (१) प्रशस्त विहायोगति अर्थात् मनोज्ञ चाल।

(२) अप्रशस्त विहायोगति अर्थात् अमनोज्ञ चाल।

इसतरह हमने चौदह पिंडप्रकृति देखी - गति ४, जाति ५, शरीर ५, बंधन ५, संघात ५, संस्थान ६, अंगोपांग ३, संहनन ६, स्पर्शरसगंधवर्ण २०, गत्यानुपूर्वी ४, और विहायोगति २। सब मिलकर ६५ उत्तर प्रकृति होती हैं। अब शेष अपिंडप्रकृति आगामी पत्र में देखेंगे!

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

कर्म - उत्तरप्रकृति भाग २

पत्रांक ३　　१६ जून २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

नामकर्म के उत्तरप्रकृति के बहुत सारे नये नाम सुनकर तुमने चिंता व्यक्त की है कि अब इन्हें कैसे याद रखेंगे? बेटियों, चिंता मत करना। चिंता करने से याद होनेवाले तो नहीं हैं। हां, इन्हें जब पढ़ती हो तो इनका स्वरूप समझ में आता है या नहीं? बस, इतना देख लो। भविष्य में जब किसी प्रकृति का नाम किसी संदर्भ में आयेगा तो तुम पन्ने पलटकर इन पत्रों को देख तो सकोगी!

पिंडप्रकृति देखने के बाद अब अपिंडप्रकृति की चर्चा करेंगे! अगुरुलघु उपघात, परघात और उच्छ्वास इन चारों को समूहरूप से याद रखना आसान है। उनका कार्य अब देखते हैं।

अगुरुलघु नामकर्म - इस कर्म के उदय से शरीर लोहे के गोले की भांति न तो अति भारी होता है या आंक के फूल की भांति न अति हलका होकर उड़ जाता है। इसलिए उसे अगुरु और अलघु मिलकर अगुरुलघु कहते हैं।

उपघात नामकर्म - स्वयं प्राप्त होनेवाले घात को उपघात या आत्मघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय में शरीर के अवयव जीव के पीड़ा का कारण बनते हैं उसे उपघात नामकर्म कहते हैं। बड़े बड़े सिंग, लम्बे स्तन, बहुत बड़ा पेट आदि जीव को पीड़ा देनेवाले अवयव हैं।

परघात नामकर्म - पर जीव के घात को परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय में शरीर में दूसरे जीवों का घात करने में कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं उसे परघात नामकर्म कहते हैं। जैसे, सांप के डाढ़ में विष, बिच्छू के डंख में दूसरे के दुःख में कारणभूत पुद्गल का संचय, सिंह, वाघ, चीता आदि में तीक्ष्ण नख और दांत, कुछ वृक्षों में जहरीले फल आदि परघात नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं।

उच्छ्वास नामकर्म - जिस कर्म के उदय में जीव उच्छ्वास और निश्वास रूप कार्य करने में समर्थ होता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

अब दो नाम एकसाथ याद रखो - आतप और उद्योत नामकर्म।

आतप नामकर्म - जिस कर्म के उदय में शरीर में आतप अर्थात् उष्णतायुक्त प्रभा उत्पन्न होती है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं। सूर्य विमान के बादर पृथ्वीकायिक जीवों में इसका उदय पाया जाता है।

उद्योत नामकर्म - जिस कर्म के उदय में शरीर में उद्योत अर्थात् उष्णतारहित प्रभा उत्पन्न होती है, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं। चन्द्रबिम्ब के पृथ्वीकायिक जीव, जुगनू तथा अन्य जीवों में यह पाया जाता है।

तुम पूछोगी, 'अग्निकायिक जीवों में आतप नामकर्म का उदय होता होगा, क्योंकि अग्नि में उष्णता भी है और प्रकाश भी है।'

अग्निकायिक जीवों में आतप नामकर्म का उदय नहीं पाया जाता। उनमें उष्णता है मगर उसे आतप नहीं कहते, तेज कहते हैं। यह उष्णता उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय से होती है। सूर्यबिम्ब के पृथ्वीकायिकों में सर्वांग उष्णतारूप प्रभा है उसे आतप कहते हैं। चन्द्रबिम्ब के उष्णतारहित प्रभा को उद्योत कहते हैं।

तिर्यंचगति के एकेन्द्रिय, पर्याप्त, बादर, पृथ्वीकायिकों में ही आतप नामकर्म का उदय पाया जा सकता है। सूक्ष्म जीवों, अग्निकायिकों, वायुकायिकों, अपर्याप्तों, वनस्पतिकायिकों, जलकायिकों तथा त्रसों में आतप नामकर्म का उदय नहीं होता।

उद्योत नामकर्म का उदय भी बादर, पर्याप्त, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, प्रत्येक वनस्पति तथा पर्याप्त द्वीन्द्रियों से संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में किसी के पाया जाता है। अन्य गति के जीवों में आतप या उद्योत का उदय नहीं होता।

बस, अब तो बहुत ही कम प्रकृति देखना बाकी रह गयी। यात्रा में पहाड़ पर चढ़ते समय थोड़ी ही सीढ़ियां बाकी रहती हैं और ऊपर के मंदिरों के दर्शन

होने लगते हैं तो हम नयी उमंग से चढ़ना प्रारंभ करते हैं। उसी तरह अब केवल बाईस प्रकृति शेष रही हैं। उनमें दस जोड़ी हैं - चार जोड़ी का एक समूह - ग्रुप और छह जोड़ी का एक समूह और शेष दो - तीर्थंकर और निर्माण। अब इन्हें देखते हैं।

त्रस - स्थावर, बादर - सूक्ष्म, पर्याप्त - अपर्याप्त, प्रत्येक - साधारण इन चार युगलों में से यथायोग्य एक प्रकृति का उदय रहता है।

त्रस नामकर्म - द्वीन्द्रियों से पंचेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस कहते हैं। त्रस नामकर्म के उदय से जीव त्रस पर्याय में जन्म लेता है।

स्थावर नामकर्म - पांच प्रकार के एकेन्द्रियों को स्थावर कहते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म लेता है।

बादर नामकर्म - बादर नामकर्म के उदय में ऐसा शरीर प्राप्त होता है कि जो दूसरे से रोका जाता है और जो स्वयं दूसरे को रोकता है। बादर शरीर भीत में से या अन्य ठोस (घन) पदार्थ में से आरपार नहीं जा सकता तथा उस शरीर में से अन्य चीजें आरपार नहीं जा सकती। द्वीन्द्रियादिक जीव बादर ही हैं। एकेन्द्रियों में बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के जीव पाये जाते हैं।

सूक्ष्म नामकर्म - सूक्ष्म नामकर्म के उदय में ऐसा शरीर प्राप्त होता है कि जो दूसरे पदार्थों द्वारा रोका नहीं जा सकता और जो स्वयं दूसरे को नहीं रोकता - प्रतिबंध नहीं करता। सूक्ष्म और बादर जीवों संबंधी विस्तृत चर्चा हमने 'करणानुयोग परिचय' पुस्तक में की थी। वहाँ पर्याप्त, अपर्याप्त जीव तथा छह पर्याप्ति संबंधी भी विस्तार से विवेचन किया था।

पर्याप्त नामकर्म - पर्याप्त नामकर्म के उदय से आहारादि छह पर्याप्ति उत्पन्न होती हैं उनकी पूर्णता नियम से होती है। पर्याप्ति का अर्थ है पूर्णता। आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनपर्याप्ति इसप्रकार छह पर्याप्ति होती हैं।

अपर्याप्त नामकर्म - अपर्याप्त नामकर्म के उदय में एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती। उसके पहले ही जीव मर जाता है। सभी पर्याप्ति का प्रारंभ तो होता

है परंतु पूर्णता एक की भी नहीं होती। इन जीवों को लब्धि अपर्याप्तक - लब्ध्यपर्याप्तक जीव कहते हैं। वे एक श्वास के अठारहवें भाग में मर जाते हैं। उनका एक भव इतना छोटा होता है इसलिए उसे क्षुद्रभव कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रियों तक अपर्याप्त जीव पाये जाते हैं।

प्रत्येक और साधारण शरीर के प्रकार हैं। प्रत्येकशरीर जीव अर्थात् एक शरीर का स्वामी एक जीव होता है और साधारणशरीर जीव अर्थात् एक शरीर के स्वामी अनंत जीव होते हैं - एक शरीर में अनंत जीव एकसाथ रहते हैं। अनंत जीवों में एक ही औदारिक शरीर पाया जाता है।

प्रत्येक और साधारण भेद वनस्पतिकायिक जीवों में पाये जाते हैं। अन्य एकेन्द्रिय तथा सर्व त्रस जीव प्रत्येकशरीर जीव ही हैं।

प्रत्येक नामकर्म - प्रत्येक नामकर्म के उदय में प्रत्येकशरीर की प्राप्ति होती है।

साधारण नामकर्म - साधारण नामकर्म के उदय में साधारणशरीर की प्राप्ति होती है। निगोद जीवों में साधारण नामकर्म का उदय पाया जाता है। इनमें भी सूक्ष्म और बादर भेद होते हैं।

अब छह युगलों के नाम इसप्रकार हैं - स्थिर - अस्थिर, शुभ - अशुभ, सुभग - दुर्भग, सुस्वर - दुस्वर, आदेय - अनादेय, यशस्कीर्ति - अयशस्कीर्ति। इनमें से प्रत्येक का स्वरूप देखते हैं।

स्थिर नामकर्म - स्थिर नामकर्म के उदय से शरीर के धातु और उपधातु अपनी अपनी जगह रहते हैं - उनमें बिगाड़ नहीं होता। धातु का अर्थ सोना, चांदी, पितल मत समझना। मनुष्य और तिर्यंचों का औदारिक शरीर सप्त धातु युक्त होता है उन धातु की यहाँ बात हो रही है।

वे सात धातु इसप्रकार हैं - रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मीजी (मज्जा) शुक्र। वे इसी अनुक्रम से परिणमते हैं। इनके अलावा सात उपधातु हैं, जो इसप्रकार हैं - वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उदराग्नि। स्थिर

नामकर्म के उदय से रसादिक धातुओं का कितने ही काल तक अपने रूप से अवस्थान होता है।

अस्थिर नामकर्म - अस्थिर नामकर्म के उदय से धातु और उपधातु अपनी जगह स्थिर न रहकर चलायमान होते हैं, रसादिक धातुओं का आगे की धातुओंरूप से परिणमन होता है।

शुभ नामकर्म - शुभ नामकर्म के उदय में शरीर के अवयव - मस्तकादिक प्रशस्त होते हैं अर्थात् मनोज्ञ - रमणीक होते हैं।

अशुभ नामकर्म - अशुभ नामकर्म के उदय में शरीर के अवयव - मस्तकादिक अप्रशस्त होते हैं अर्थात् अमनोज्ञ - अरमणीक होते हैं।

सुभग नामकर्म - सुभग नामकर्म के उदय में अन्य लोग उस जीव से प्रीति करते हैं।

दुर्भग नामकर्म - दुर्भग नामकर्म के उदय में अन्य लोग उस जीव से प्रीति नहीं करते। रूपादिक गुणसंयुक्त होनेपर भी अन्य लोग इससे अप्रीति करते हैं।

सुस्वर नामकर्म - सुस्वर नामकर्म के उदय में मनोज्ञ - सुरेल आवाज या शब्द उपजता है।

दुस्वर नामकर्म - दुस्वर नामकर्म के उदय में अमनोज्ञ - कर्कश स्वर - शब्द उपजता है।

आदेय नामकर्म - आदेय नामकर्म के उदय में प्रभा अर्थात् कांतिसहित शरीर उपजता है।

अनादेय नामकर्म - अनादेय नामकर्म के उदय में प्रभारहित अर्थात् कांतिरहित शरीर उपजता है।

यशस्कीर्ति नामकर्म - यशस्कीर्ति नामकर्म के उदय में अपने पुण्यरूप पवित्र गुण जग में प्रकट होते हैं अर्थात् यश होता है।

अयशस्कीर्ति नामकर्म - अयशस्कीर्ति नामकर्म के उदय में जग में अपना अपयश प्रकट होता है।

चलो, अब दो ही प्रकृति रह गयी।

निर्माण नामकर्म - निर्माण नामकर्म के उदय में शरीर के अवयव यथायोग्य उपजते हैं। इसके दो भेद हैं - स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण।

जाति नामकर्म की सापेक्षता से नेत्रादिक अवयव जहाँ होने चाहिए उसी स्थान में उत्पन्न होने में स्थाननिर्माण नामकर्म निमित्त है। जैसे, मछली की आंखें विवक्षित जगह होती हैं, तो मेंढ़क की आंखें उनके योग्य स्थानपर तथा मनुष्य की आंखें अपने यथास्थानपर होती हैं।

प्रमाणनिर्माण नामकर्म के उदय में नेत्रादिकों का जो प्रमाण है अर्थात् जो संख्या निश्चित है, उतनी संख्या में वे अवयव निर्माण होते हैं।

तीर्थंकर नामकर्म - तीर्थंकर नामकर्म के उदय में जीव तीर्थंकर बनता है। उसकी दिव्यध्वनि खिरती है, समवशरण की रचना होती है तथा अन्य अनेक अतिशय होते हैं।

नामकर्म की इन त्र्याणवे प्रकृति का वर्णन पढ़कर तुम कौनसी प्रकृति बांधने का विचार कर रही हो? अन्य नहीं तो कमसे कम तीर्थंकर प्रकृति तो बांधना योग्य है कि नहीं? इस बात का निर्णय सर्वप्रथम होना चाहिए। इन सब प्रकृतियों के नाम मालूम न हो तो भी कोई बात नहीं। परंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण एक बात निर्णयपूर्वक जानना अति आवश्यक है। वह बात है - 'कोई भी कर्म बांधने योग्य नहीं है ।'

किसी भी कर्म के फल में - उसके उदय में प्राप्त होनेवाली सामग्री में जिसे रुचि है, उसमें सुखबुध्दि है, मुझे वह उदय प्राप्त हो तो कितना अच्छा ऐसी जिसकी बुध्दि है, वह कर्म के बंधन को उपादेय मानता है। यह उसकी मिथ्याबुध्दि है। बंधतत्त्वसंबंधी तथा सातों ही तत्त्वसंबंधी उसकी विपरीत मान्यता है।

नामकर्म की उत्तर प्रकृति में से कुछ प्रकृति प्रशस्त हैं - पुण्यरूप हैं और कुछ अप्रशस्त हैं - पापरूप हैं। पुण्यपरिणामों से - शुभभावों से - विशुध्द

परिणामों से प्रशस्त प्रकृति बंधती हैं और पाप परिणामों से - अशुभभावों से - संक्लेश परिणामों से अप्रशस्त प्रकृति बंधती हैं।

कर्म पुद्गल द्रव्य है - परद्रव्य है। उसे बांधना या छोड़ना तो किसी भी जीव के आधीन नहीं है - अरहंत भगवान भी कर्म की एक भी अवस्था को पलटा नहीं सकते। इसलिए प्रशस्त प्रकृति बांधना अपने बस की बात नहीं यह बात तो निश्चित हुयी - सिध्द हुयी।

तुम पूछोगी, 'जिन शुभभावों से प्रशस्त प्रकृति बंधती हैं, वे शुभभाव तो जीव के परिणाम हैं। उन्हें तो हम सोच समझकर कर सकते हैं ना? वह तो हमारे बस की बात है ना?'

बेटियों, हे जीवों! इसी मिथ्या मान्यता से अनादिकाल से यह जीव ग्रसित है। शरीर से जीव की भिन्नता को तो सभी सम्प्रदाय के लोग मान्य करते हैं परंतु रागादि भावों से अपनी भिन्नता इस जीव के ख्याल में नहीं आती। विशिष्ट रागभाव करने योग्य मानना तो उसकी आस्रव और बंध में उपादेयबुध्दि है। रागभाव करना मेरे हाथ की बात है, मैं चाहूँ वैसे विकार को पलटा सकता हूँ या कर सकता हूँ माननेवाले ने जीवतत्त्व और आस्रव - बंध तत्त्व को एकमेक माना है। सात तत्त्वों का सही स्वरूप एवं उनकी आपस में भिन्नता उसके ख्याल में नहीं आती।

मुझे बताओ, पूजा करते समय, शास्त्र स्वाध्याय करते समय बीच में अन्य कोई विचार मन में क्यों आता है? हमारी इच्छा से तो वे विचार नहीं आते। जिस प्रकार वह अशुभ भाव हमारे किये बिना सहज उस पर्याय की योग्यता से हो जाता है, उसीप्रकार शुभभाव भी सहज ही होता है। यह सहजता अज्ञानी जीव के ख्याल में नहीं आती और वह रागभाव का कर्ता बनता है - स्वयं को उसका कर्ता मानता है।

ज्ञानी जीव रागादि से भिन्न अपना अस्तित्व जानता है। ज्ञानी के भी रागादि होते हैं, फिर भी उनकी कर्ताबुध्दि उसे नहीं होती। वह उनका सहज ज्ञाता रहता है। अज्ञानी मानता है कि शुभभाव तो करना ही चाहिए ना? उसके बिना धर्म कैसे प्रकट होगा?

अज्ञानी जीव शास्त्र में पढ़ता है कि षोडशकारण भावना भाने से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है। वह सोचता है तीर्थंकर प्रकृति बांधना कितना अच्छा है। मैं भी तीर्थंकर प्रकृति बांधूंगा। परंतु वह इस बात को भूल जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। जिनेन्द्र भगवंतों ने बताया हुआ मोक्षमार्ग सभी जीवों की समझ में आये इसतरह के तथा अन्य भी शुभभाव ज्ञानी के सहज होते हैं और तब तीर्थंकर प्रकृति बंधती है।

परंतु जिन परिणामों से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है उन परिणामों को वह करने योग्य नहीं मानता - उपादेय नहीं मानता। परंतु अंतरंग में स्थिर नहीं रहता तब उसे वैसे भाव सहज आते हैं। सच देखा जाये तो एक बार वह बंधना प्रारंभ हो जाये तो आठवें गुणस्थान तक प्रतिसमय बंधती है। कोई उसी भव में तीर्थंकर होता है तो कोई देव या नारकी का एक भव करके पश्चात् तीर्थंकर होता है।

अब विषय निकला ही है तो प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृति कौनसी हैं देखते हैं।

हमने कर्मों की आठ मूलप्रकृति तथा उनकी १४८ उत्तरप्रकृति देखी। उनका विस्तार से वर्णन भी देखा। शास्त्र में कहीं कहीं १२२ प्रकृति का हिसाब देखकर तुम भ्रम में मत पड़ जाना। १४८ प्रकृति को १२२ में गर्भित कर देते हैं। जो इसप्रकार है - ५ शरीर, ५बंधन और ५ संघात नामकर्मों को अलग अलग न कहकर ५ शरीर नामकर्म में ही उसी नाम के बंधन और संघात नामकर्मों को अंतर्भूत करके १५ के बदले में ५ गिनते हैं। उसीतरह स्पर्शादि २० प्रकृति के बदले स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इन ४ में उनके प्रभेद गर्भित करके २० के बदले ४ गिनते हैं।

इसप्रकार १०+१६ =२६ संख्या बाद करने पर १४८ - २६ = १२२ प्रकृति गिनने की भी पद्धति है। उसमें सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति बंधयोग्य नहीं है इसलिए बंधयोग्य प्रकृति की संख्या १२० है। लब्धि के प्रकरण में अप्रशस्त कर्म प्रकृति का अनुभाग अनंत गुणा घटता जाता है और प्रशस्त प्रकृति का अनुभाग अनंत गुणा बढ़ता जाता है आदि वर्णन आनेवाला

है। उसका अर्थ ठीक रीति से भासित हो, इसलिए हम प्रशस्त अप्रशस्त प्रकृति कौनसी हैं उसे देखेंगे।

आठ कर्म के दो भेद हैं - घातिकर्म और अघातिकर्म। हमने जो उत्तरप्रकृति देखी उसको आकृति द्वारा निम्नप्रकार बतायेंगे। १२२ के हिसाब से आनेवाली संख्या ब्रैकेट में लिखी है।

कर्म

घातिकर्म		अघातिकर्म		
ज्ञानावरण	५	वेदनीय	२	
दर्शनावरण	९	आयु	४	
मोहनीय	२८	नाम	९३	(६७)
अंतराय	५	गोत्र	२	
कुल	४७	कुल	१०१	(७५)

इनमें घातिकर्म की सर्व ४७ प्रकृति अप्रशस्त ही हैं। अघातिकर्म में प्रशस्त और अप्रशस्त दो भेद पाये जाते हैं।

अघातिकर्म

प्रशस्तप्रकृति			अप्रशस्तप्रकृति		
सातावेदनीय	१		असातावेदनीय	१	
शुभ आयु	३		अशुभ आयु	१	
(मनुष्यायु, देवायु, तिर्यंचायु)			(नरकायु)		
शुभनाम	६३	(३७)	अशुभनाम	५०	(३४)
उच्चगोत्र	१		नीचगोत्र	१	
	६८	(४२)		५३	(३७)

इसतरह १४८ प्रकृति में ६८ प्रकृति प्रशस्त हैं और घाति अघाति को मिलाकर ४७ + ५३=१०० प्रकृति अप्रशस्त हैं।

तुम कहोगी, 'दोनों का जोड़ तो १६८ होगा और प्रकृति तो आपने १४८ बतायी हैं।'

इसका मतलब यह है कि तुम ध्यान देकर पढ़ रही हो। अच्छी बात है। इनमें से स्पर्शादि २० प्रकृति दोनों ही में शामिल हैं। प्रशस्त प्रकृति में प्रशस्त स्पर्शादि और अप्रशस्त प्रकृति में अप्रशस्त स्पर्शादि शामिल हैं। इन्हीं को १२२ प्रकृति के हिसाब से कहना हो तो ४२ प्रकृति प्रशस्त हैं और ८४ प्रकृति अप्रशस्त हैं।

अब इतना विस्तार किया ही है तो शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म की चर्चा भी कोष्टक द्वारा करते हैं।

नामकर्म

शुभनामकर्म (प्रशस्त) अशुभनामकर्म (अप्रशस्त)

नामकर्म	शुभप्रकृति	संख्या	अशुभप्रकृति	संख्या
गति	देवगति, मनुष्यगति	२	नरकगति, तिर्यंचगति	२
जाति	पंचेन्द्रिय	१	एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय	४
शरीर	सभी	५		-
बंधन	सभी	५		-
संघात	सभी	५		-
अंगोपांग	सभी	३		-
स्पर्शादि	शुभ स्पर्शादि	२०	अशुभ स्पर्शादि	२०
संस्थान	समचतुरस्र	१	शेष पांच	५
संहनन	वज्रवृषभनाराच	१	शेष पांच	५
आनुपूर्वी	मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगत्यानुपूर्वी	२	नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी	२
विहायोगति	प्रशस्त विहायोगति	१	अप्रशस्त विहायोगति	१

अगुरुलघु		१		
परघात		१	उपघात	१
उच्छ्वास		१		
आतप		१		
उद्योत		१		
त्रसादि	त्रस,बादर,पर्याप्त, प्रत्येक	४	स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण	४
स्थिर आदि	स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति	६	अस्थिर, अशुभ, दुर्भग दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति	६
तीर्थंकर		१		
निर्माण		१		
	कुल	६३	कुल	५०

हमें यह देखना है कि हमें कर्म का बंध अनादिकाल से निरंतर चलता ही आ रहा है। आयु का बंध कभी कभी होता है, शेष ७ मूलप्रकृति तो निरंतर बंधती ही हैं। जीव शुभभाव करे या अशुभभाव करे उसे आठों ही कर्म का बंध होता है। उनमें से चार घातिकर्म तो समस्त ही पापरूप हैं- अप्रशस्त ही हैं। अघातिकर्मों में जो दो प्रकार हैं उनमें से प्रशस्त प्रकृतियों का बंध शुभ परिणामों से - विशुध्द परिणामों से होता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का बंध अशुभ परिणामों से - संक्लेश परिणामों से होता है।

इसतरह यह बात सिध्द होती है कि पुण्य - शुभभाव करने से बंध होता ही है, बंध का अभाव नहीं होता। परंतु सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय मिटते हैं, उस समय से विशिष्ट प्रकृतियों का बंध होना रुकता है - उन प्रवृतियों के बंध की व्युच्छित्ति होती है। क्रमशः

अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषायों के उदय का अभाव होता जाता है वैसे अधिकाधिक प्रकृतियों की बंध की व्युच्छित्ति होती जाती है।

इसतरह बंध की हानि होना संवर है। संवरपूर्वक निर्जरा भी होती है अर्थात् सत्ता में पड़े हुये कर्म अधिक मात्रा में छूटकर निकल जाते हैं। बंध की हानि संवर है और सत्त्व की हानि निर्जरा है और यही मोक्षमार्ग है, यही लब्धि है क्योंकि इसी मार्गपर चलकर हमें मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ तो केवल प्रकृति का बंध रुकता है उसकी चर्चा की। परंतु हमने बंध के चार प्रकार देखे थे, याद है? प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध।

जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब इन चारों ही प्रकार के बंध की हानि होती है। विशिष्ट प्रकृतियों का बंध रुक जाता है, कम संख्या में प्रदेशबंध होता है, कर्मों की स्थिति का बंध अंतःकोडाकोडी सागर से भी नीचे होता है तथा अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग घटता हुआ बंधता है। प्रशस्त कर्मों का स्थितिबंध तो घटता है मगर अनुभाग बढ़ता जाता है। सम्यक्त्व होनेपर तो ये बातें होती ही हैं। परंतु जब जीव स्वयं का स्वरूप जानने के लिये उत्सुक होता है, तत्त्वज्ञानसंबंधी, अपने आत्मासंबंधी उसे जिज्ञासा और रुचि उत्पन्न होती है तभी से अर्थात् सम्यक्त्व के पूर्व होनेवाली पांच लब्धि में भी कर्मों में कितने सारे परिवर्तन होते हैं, कर्मों की शक्ति किसतरह ढ़ीली पड़ती जाती है, इन सब बातों को हम देखेंगे तो तुम कहोगी, 'हम बिना वजह कर्मों से ड़र रहे थे। जिस समय हो आत्मबुध्दि कर्म थरथर कापते हैं - यह शास्त्र का कथन उचित ही है।'

कर्म में होनेवाले ये सभी परिवर्तन कर्म में, कर्म की स्वयं की योग्यता से होते हैं, हमें कर्म में कुछ नहीं करना पड़ता - हम कुछ कर ही नहीं सकते।

कर्म की उन अवस्थाओं का - परिवर्तनों का स्वरूप ठीक तरह से समझ में आये इसलिए और भी कुछ प्राथमिक जानकारी लेना आवश्यक है।

उसकी चर्चा हम आगामी पत्र में करेंगे।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

कर्मसंबंधी कुछ पारिभाषिक शब्द

पत्रांक ४ ७ जुलाई २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

एक ओर तुमने लिखा है कि कर्मसंबंधी जानकारी पढ़कर, खास करके नामकर्म की उत्तरप्रकृति और उनके कार्य जानकर तुम्हें बड़ा आश्चर्य हुआ तथा जिज्ञासा का समाधान भी हुआ, तो दूसरी ओर तुम पूछ भी रही हो कि क्या इन सबको जाने बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती?

जरूर हो सकती है। तुम मुझे बताओ किसी मरीज को कोई रोग हुआ हो जिसका इलाज करने हेतु वह डॉक्टर के पास जाता है, अब यदि डॉक्टर ने दी हुयी दवा का नाम, उसका रासायनिक फॉर्म्युला, उसकी कार्यपध्दति, शरीर में उसमें होनेवाले परिवर्तन और किस रूप में वह दवा शरीर के बाहर चली जायेगी इसका उसे ज्ञान न हो तो क्या वह ठीक नहीं हो सकता? क्या वह रोगमुक्त नहीं हो सकता?

और अब मान लो, उस डॉक्टर को ही बिमारी हुयी हो, जो दवा के बारे में सब कुछ जानता है, तो क्या जानने मात्र से उसका रोग दूर होगा? या उसे भी दवा का सेवन करना होगा? दवा खाकर वह भी ठीक हो सकता है, है ना? उसे दृढ़ विश्वास है कि विशिष्ट दवा के सेवन से वह रोगमुक्त होगा।

और यदि वह मरीज दवा के दुकान में जाकर दिल चाहे वह दवा लेकर खाये तो? हो सकता है उसे रोग से नहीं, अपनी जान से ही हाथ होना पड़े।

उसी प्रकार कोई जीव यदि कर्म के संबंध में कुछ नहीं जानता हो, तो भी उसे सम्यक्त्व तो हो सकता है। हां, इतना जरूरी है कि उसे जिनेन्द्रकथित प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का 'ज्यों का त्यों श्रध्दान' हो, परीक्षा द्वारा तत्त्वनिर्णय किया हो, स्व पर का भेदज्ञान हो, अपना स्वरूप यथार्थ भासित हो, कर्म के बंध में और उसके फल में प्राप्त सामग्री में उसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व बुध्दि न हो। शरीरादि और रागादि में अहंबुध्दि, ममत्वबुध्दि न हो।

मुझे एक बात बताओ, यहाँ जो हम आगमकथित बातें जान रहे हैं वे सत्य हैं या असत्य? वे तो सौ प्रतिशत सत्य हैं, हैं ना? तो सत्य जानने में हमारे ज्ञान का विकास हो रहा है या ऱ्हास? टी. व्ही. पर समाचार जानने के लिये सब लोग कितने उत्सुक रहते हैं, दुनियाभर की खबरें जानने के लिये जिज्ञासा होती है और यह जीव अपने में क्या हो रहा है इस बात से बेखबर रहता हुआ अन्य खबरें जानने के लिये पागल है।

हमारे प्रतिसमय के परिणामों के निमित्त से कर्म कितने और किसतरह बंधते हैं, वे कब कितना और क्या फल देते हैं? क्या कर्मबंध और कर्मफल से हमारा अस्तित्व भिन्न है या नहीं? क्या इनसे छूटने का भी कोई उपाय हो सकता है? पुण्य करने से मोक्षमार्ग शुरू होगा या नहीं? इन बातों का इसे विचार ही नहीं और देखादेखी कुछ करके समाधान मानता है।

बेटियों, मोक्ष का मार्ग बहुत ही सरल, सुलभ, सहज और सुखकर है, सुखमय है। परंतु जीव का उसपर विश्वास ही नहीं है। यही तो रहस्य है। मुझे कुछ क्रिया करना चाहिए तभी मुझे मोक्षमार्ग हासिल होगा ऐसी भ्रांति इस जीव की है। शुभभाव और देहादिक की क्रिया में ही इस जीव ने धर्म माना है। परंतु शुभाशुभ भावरहित त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानंद स्वरूपी मैं हूँ इस बात का इसे स्वीकार नहीं है। देहादि की क्रिया तो जड़ की क्रिया है - परद्रव्य की क्रिया है, जीव उसे कर ही नहीं सकता। शुभाशुभ राग तो विभाव है, स्वभाव नहीं है, जीव के स्वभाव से विरुध्द भाव है। तो फिर विभाव करके इसके स्वभावपर्याय कैसे प्रकट होगी?

सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्याय प्रकट होनेपर मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है। उसके पहले जीवों के पांच लब्धि होती हैं। उनका स्वरूप समझने के लिये कुछ पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। अब उनका विचार करते हैं।

हम पहले अनेक बार पढ़ चुके हैं कि कर्म का बंध चार प्रकार से बता सकते हैं। जिन कर्म प्रकृतियों का बंध होता है वह तो प्रकृतिबंध है। जितनी संख्या में कर्म परमाणु बंधते हैं परमाणुओं की उस संख्या को प्रदेशबंध कहते

हैं। एक समय में अनंत कर्म परमाणु बंधते हैं उन्हें 'समयप्रबध्द' अर्थात् एक समय में बंधनेवाले कहते हैं। बंध होते समय यह निश्चित होता है कि वह कर्म अधिक से अधिक कितने काल तक जीव से निबध्द रहेगा - बंधा हुआ रहेगा और कब वह अकर्मरूप होकर निकल जायेगा। इस कालावधि को स्थितिबंध कहते हैं। उन कर्म परमाणुओं में फल देने की जो शक्ति है उसे अनुभागबंध कहते हैं।

बंध होने के पश्चात् कर्म जीव के प्रदेशों में पड़ा रहता है - बंधा हुआ रहता है उसे सत्त्व या कर्म की सत्ता कहते हैं। कर्म का बंध होने के पश्चात् विशिष्ट काल तक उदय या उदीरणा नहीं होती उसे आबाधाकाल कहते हैं। आबाधाकाल के पश्चात् कर्म उदय में आना शुरू होता है अर्थात् फल देकर खिर जाता है - अकर्मरूप होता है - उसकी निर्जरा होती है। यह सामान्य निर्जरा है, मोक्षमार्गवाली निर्जरा नहीं है। जिसतरह प्रतिसमय एक समयप्रबध्द का बंध होता है, उसतरह एक समयप्रबध्द की निर्जरा भी होती है।

इस रीति से जीव की सत्ता में अनंतानंत कर्म सत्त्वरूप से पड़े हैं, उनमें प्रतिसमय एक समयप्रबध्द बंधता है और एक समयप्रबध्द खिर जाता है - उदय में आता है और कर्म की सत्ता हमेशा बनी रहती है।

एक समय में बंधे हुये परमाणु एकसाथ उदय में नहीं आते परंतु आबाधाकाल पूरा होनेपर अनंतर समय से लेकर कर्म की स्थिति के अंत समय तक निरंतर कुछ ना कुछ परमाणु खिरते रहते हैं। इसको कर्म का 'उदयकाल' कहते हैं। एकसाथ उदय में आनेवाले कर्म परमाणुओं के समूह को 'निषेक' कहते हैं।

एक समय में बंधे हुये कर्म लगातार अनेक वर्षों तक उदय में आते रहते हैं। हम प्रतिसमय कर्म बांधते आ रहे हैं। इसलिए जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति पूरी होती है वे अलग अलग अनेक समयों में बंधे हुये परमाणु एकसाथ उदय में आते हैं और उनका फल भी उनके अनुभाग के अनुसार मिलता है।

इसतरह सत्ता में जो कर्म पड़े हैं उनमें जो जो परमाणु समान स्थितिवाले

हैं उनके समूह को हम निषेक कहते हैं। इसे सत्ता का निषेक कहेंगे। इनमें से प्रतिसमय एक निषेक उदय में आकर खिर जायेगा। वर्तमान समय में उदय में आनेवाले निषेक को 'प्रथम निषेक' कहते हैं उसे आड़ी रेखा से बताते हैं। उसके ऊपर दूसरी आड़ी रेखा खींचते हैं वह द्वितीय निषेक को बताती है। प्रतिसमय एक निषेक इसतरह प्रत्येक कर्म के अपने अपने अनेक निषेक - अनेक कोडाकोडी सागरों के निषेक सत्ता में पड़े रहते हैं।

कर्मों की स्थिति बताने के लिए निषेक रचना होती है। यहाँ तुम ऐसा मत समझना की जीव के प्रदेशों में कर्म कतार से खड़े हैं। जब जब कर्म बंधता है तब आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में वे परमाणु समान रूप से फैल जाते हैं। जो जहाँ पर स्थित हो, परंतु जिन किन्ही परमाणुओं की समान स्थिति होगी उनको हम निषेक कहेंगे।

कर्म परमाणुओं में स्थिति के साथ साथ विशिष्ट अनुभाग भी होता है उनकी अपनी फलदान शक्ति होती है। इस शक्ति को 'अविभाग प्रतिच्छेदों' में नापा जाता है। शक्ति के सबसे छोटे अंश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। कर्म परमाणुओं में उनकी शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं इसलिए एक परमाणु को एक 'वर्ग' कहते हैं। जिन परमाणुओं में अर्थात् वर्गों में समान अविभाग प्रतिच्छेद पाया जाता है उन वर्गों के समूह को 'वर्गणा' कहते हैं।

सबसे कम अविभाग प्रतिच्छेदवाले वर्गों की वर्गणा को 'जघन्य वर्गणा' या 'प्रथम वर्गणा' कहते हैं। जिनमें एक अधिक अविभाग प्रतिच्छेद होगा ऐसे वर्गों की वर्गणा को 'द्वितीय वर्गणा' कहते हैं। प्रथम वर्गणा को नीचे लिखते हैं, द्वितीयादि वर्गणाओं को ऊपर लिखते हैं।

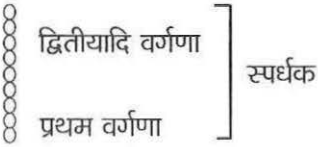

अनंत वर्गणाओं के समूह को 'स्पर्धक' कहते हैं। वर्गणाओं के वर्गों के अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ते बढ़ते जिस वर्गणा में दुगुणे होते हैं वहाँ से दूसरा स्पर्धक प्रारंभ होता है, जब तीन गुणा होते हैं तब तीसरा स्पर्धक।

किसी एक समय में बंधे हुये परमाणुओं की जब हम निषेक रचना देखते हैं तो उसके प्रथम निषेक में परमाणुओं की संख्या सर्वाधिक होती है ~~वस्तु अनुभाग सबसे हीन होता है~~। ऊपर ऊपर के निषकों में परमाणु कम होते जाते हैं ~~और अनुभाग बढ़ता जाता है।~~

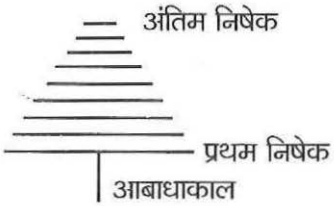

निषेक रचना हो या स्पर्धक रचना वे तो मात्र आलेख हैं चित्रांकन हैं। जिसतरह वस्तु की कीमतें दर्शानेवाले आलेख होते हैं या टी. व्ही. पर क्रिकेट मैच देखते समय उनकी रनों की संख्या का आलेख बताते हैं उसीतरह यहाँ समझना।

प्रत्येक कर्म प्रकृति की अनंतानंत वर्गणा और स्पर्धक होते हैं। वहाँ मंद अनुभाग से लेकर तीव्रतम अनुभाग तक अनेक स्पर्धक बताने के लिये उपमा देकर - नाम देकर समझाया जाता है।

घातिकर्म और अघातिकर्म में स्पर्धक रचना के नाम इसप्रकार हैं - घातिकर्म में मंद से तीव्र अनुभागवाले स्पर्धक के चार प्रकार हैं - (१) लताभाग (२) दारु (काष्ठ) भाग (३) अस्थि (हड्डी) भाग (४) शैल भाग। लता यानि बेल नरम होती है कठिन नहीं, वैसे इन स्पर्धकों में अनुभाग मंद होता है। लता से दारु यानि काष्ठ कठिन होता है वैसे इन स्पर्धकों का अनुभाग अधिक होता है। उससे भी अधिक अनुभाग अस्थिभागवाले और सर्वाधिक अनुभाग शैलभागवाले स्पर्धकों में होता है। काष्ठ से हड्डी और हड्डी से शैल यानि शिला - पत्थर कठिन होता है, वैसे यहाँ भी समझना। इसमें हर एक प्रकार के अनंत स्पर्धक होते हैं।

इसतरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय कर्मों में तीव्रता की अपेक्षा शैल, अस्थि, दारु व लता ऐसे अनुभाग के चार स्थान पाये जाते हैं। जब किसी कर्म में चारों ही प्रकार का अनुभाग बंध होता है तो उसे चतुःस्थानगत बंध कहते हैं।

जीव के विशुध्द परिणामों के निमित्त से जब अतितीव्र अनुभागवाली घाति कर्म की प्रकृति नहीं बंधती तब त्रिस्थानगत - अस्थि, दारु, लता भागवाले स्पर्धक बंधते हैं, शैलभागवाले नहीं बंधते और जब द्विस्थानगत बंध होता है तब दारु और लता भागरूप बंध होता है; शैल, अस्थि भागवाला बंध नहीं होता।

घातिकर्म में अनुभाग की अपेक्षा स्पर्धकों के चार स्थान देखे, उसीप्रकार अघातिकर्मों में भी स्पर्धकों के चार चार प्रकार पाये जाते हैं। अघातिकर्मों में प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार की प्रकृति हैं उनके अपने अपने स्पर्धकों के नाम अलग अलग हैं।

प्रशस्त प्रकृति में मंद से तीव्र अनुभागवाले स्पर्धकों के चार स्थान इसप्रकार हैं - (१) गुड़ (२) खांड़ (३) शर्करा (मिस्री) (४) अमृत।

इन चार पदार्थों में मिठास क्रमशः बढ़ती जाती है, वैसे इन प्रशस्त प्रकृतियों के स्पर्धकों में अनुभाग अर्थात् फल देने की शक्ति अधिकाधिक होती है। इसमें जब द्विस्थानगत बंध कहते हैं तब गुड़ और खांड़ भागवाले स्पर्धकों का बंध समझना और जब चतुःस्थानगत कहेंगे तब चारों ही प्रकार का समझना।

अघाति की अप्रशस्त प्रकृतियों में मंद से तीव्र अनुभागवाले स्पर्धकों के चार स्थान इसप्रकार हैं - (१) निंब (२) कांजीर (३) विष (४) हलाहल। ये पदार्थ अधिकाधिक कटु हैं - कड़वे हैं उसीप्रकार इनमें अनुभाग तीव्र है। जब जीव के परिणामों की विशुध्दि बढ़ती जाती है तब अघातिया की अप्रशस्त प्रकृति का अनुभाग बंध भी द्विस्थानगत रह जाता है, चतुःस्थानगत बंध नहीं होता। इतना ही नहीं पूर्व में बंधे हुये चतुःस्थानगत स्पर्धकों का अनुभाग अनंत गुणा हीन हीन होता जाता है और सत्ता में पड़े हुये कर्मों में द्विस्थानगत अनुभाग शेष रहता है। इसकी चर्चा तो यथास्थान आयेगी ही। इसे अब कोष्टक (चार्ट) द्वारा समझेंगे।

घाति और अघाति कर्मों के स्पर्धकों में अनुभाग की अपेक्षा चार चार स्थान-

घातिकर्म	अघातिकर्म	
अप्रशस्त ही है	प्रशस्त	अप्रशस्त
शैल	अमृत	हलाहल
अस्थि	शर्करा (मिस्री)	विष
दारु	खांड़	कांजीर
लता	गुड़	निंब

घातिकर्म में दो प्रकार की प्रकृति पायी जाती हैं - सर्वघाति प्रकृति और देशघाति प्रकृति। जैसे, केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण आदि सर्वघाति प्रकृति हैं, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण आदि देशघाति प्रकृति हैं।

अब इन प्रकृति के जो स्पर्धक हैं उनमें भी दो प्रकार के स्पर्धक पाये जाते हैं - सर्वघाति स्पर्धक और देशघाति स्पर्धक।

हमने घातिकर्मों के चार प्रकार के स्पर्धक देखे - शैल, अस्थि, दारु और लता। उनमें से शैल, अस्थि व दारुभाग में से अनंत बहुभाग स्पर्धक सर्वघाति स्पर्धक हैं और दारुभाग में से अनंतवां भाग स्पर्धक और लताभागवाले सर्व स्पर्धक देशघाति स्पर्धक हैं।

तुम कहोगी इसमें बताने की क्या जरूरत है? सर्वघाति प्रकृति के स्पर्धक सर्वघाति होंगे और देशघाति प्रकृति के स्पर्धक देशघाति होते होंगे।

तुम्हारी आधी ही बात सच है। सर्वघाति प्रकृति के सभी स्पर्धक सर्वघाति स्पर्धक होते हैं परंतु देशघाति प्रकृति में दोनों ही प्रकार के स्पर्धक होते हैं - सर्वघाति स्पर्धक और देशघाति स्पर्धक। इसे दुबारा समझेंगे, उसके पहले बहुभाग - एकभाग किसे कहते हैं देखेंगे। मान लो, तुम्हें १००० संख्या को १० से भाग देकर बहुभाग और एकभाग करना है तो पहले एक हजार को दस से भाग देंगे तो सौ आयेंगे १००० ÷ १०=१०० अर्थात् एकभाग की

कीमत एकसौ है। दस भाग में से एक भाग अलग निकालेंगे तो बहुभाग यानि नौ भाग की कीमत नौसौ होगी। इसलिए बहुभाग ९०० और एक भाग १०० होगा।

दारुभाग में अनंत स्पर्धक हैं उसे यथायोग्य उससे छोटे अनंत का भाग देंगे तो अनंत ही आयेंगे। उसमें से बहुभाग और एक भाग करना। दारुभागवाले बहुभाग तो सर्वघाति स्पर्धक हैं और एकभाग देशघाति स्पर्धक हैं।

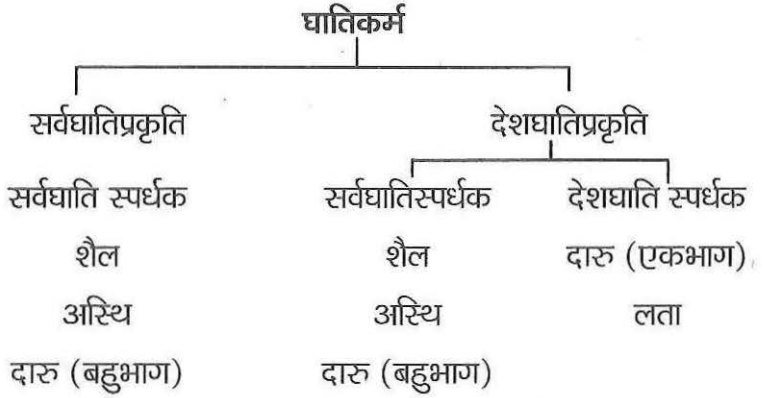

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि प्रकृति देशघाति होनेपर भी उसके स्पर्धक दोनों प्रकार के हैं - सर्वघाति स्पर्धक और देशघाति स्पर्धक।

हम इसे ज्ञानावरण कर्मपर घटाते हैं। केवलज्ञानावरण सर्वघाति प्रकृति है, उसके सभी स्पर्धक सर्वघाति हैं अर्थात् पूरा घात करते हैं - पर्याय में केवलज्ञान प्रकट नहीं होता। कर्म कुछ नहीं करता परंतु जब जीव केवलज्ञानरूप परिणमन नहीं कर रहा हो तब सामने केवलज्ञानावरण तथा अन्य ज्ञानावरण कर्मों का उदय विद्यमान रहता है।

मतिज्ञानावरण देशघाति प्रकृति है। इनके सर्वघाति स्पर्धकों का कभी उदय नहीं होता, हमेशा देशघाति प्रकृति का ही उदय रहता है। मान लो, सर्वघाति स्पर्धकों का उदय हो जाये तो जीव पर्याय में सर्वथा ज्ञानरहित हो जायेगा, जड़ अचेतन हो जायेगा - जो कभी होता ही नहीं।

इसपर से अब 'क्षयोपशम' की परिभाषा सिखाना बिल्कुल आसान हो जायेगा। वैसे भी क्षयोपशमलब्धि का ज्ञान करने से पहले क्षयोपशम का स्वरूप जानना जरूरी है।

तुमने अनेक बार सुना है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान सारे क्षयोपशम ज्ञान हैं। उनमें प्रतिस्पर्धी कर्मों का क्षयोपशम पाया जाता है। इसे हम मतिज्ञानावरण कर्मपर घटाते हैं। क्षयोपशम की परिभाषा इसप्रकार है - 'वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, भविष्यकालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय - कर्म की इन तीनरूप अवस्थाओं को क्षयोपशम कहते हैं।'

वर्तमान में सर्वघाति स्पर्धकों का उदय नहीं होना ही क्षय कहलाता है। यहाँ क्षय का अर्थ 'सत्ता में से नाश' नहीं है। भविष्य में तो वे स्पर्धक पड़े हैं - सत्ता में हैं परंतु सर्वघातिरूप से वे कभी उदय में नहीं आते, हैं वहीं बने रहते हैं - स्थिति पूर्ण हुयी हो तो देशघातिरूप होकर उदय में आते हैं। उनका उदीरणा होकर उदयरूप न होना ही सदवस्थारूप उपशम (अप्रशस्त उपशम) कहलाता है। वर्तमान में उदय देशघाति स्पर्धकों का होता है। देशघाति कहते ही उसे है जो पूरा घात करने में समर्थ नहीं है। इसलिए एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों को मति-श्रुत ज्ञान तो उघाड़रूप होता ही है। कोई भी जीव ज्ञानरहित नहीं होता।

सूक्ष्म निगोदिया जीवों में भी ज्ञान का कुछ न कुछ अंश प्रकट रहता ही है।

तुम पूछोगी, 'अभी अभी आपने अवधिज्ञानावरण कर्म को देशघाति प्रकृति कहा था, तो हमें अवधिज्ञान प्रकट क्यों नहीं है?'

तुम्हारा प्रश्न मार्मिक है परंतु थोड़ा अधिक विचार करनेपर तुम स्वयं ही इसका उत्तर दे सकोगी।

देखो, हमें अवधिज्ञान प्रकट नहीं है, यह हमारी योग्यता से प्रकट नहीं है इसका पहले स्वीकार करो। अब रही कर्म की बात। अवधिज्ञानावरण में जो सर्वघाति स्पर्धक हैं - शैल, अस्थि, दारु (बहुभाग) वाले स्पर्धक हैं उनका अभी

उदय चल रहा है, इसलिए अवधिज्ञान प्रकट नहीं है। यह हमारा औदयिक अज्ञान है। अब जिन जीवों के अवधिज्ञान प्रकट है उनके शैल, अस्थि, और दारु (बहुभाग) वाले स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय है, भविष्यकालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम है और लता भागवाले स्पर्धकों का उदय है। यह उनका क्षायोपशमिक अवधिज्ञान है।

ये लता भागवाले स्पर्धक भी मंद से तीव्र तक अनेक हैं। यदि उनमें से तीव्र अनुभाग यानि अधिक आवरण का उदय होगा तो कम शक्तिवाला अवधिज्ञान प्रकट होगा। यदि मंद आवरण का उदय हो तो वह अवधिज्ञान अधिक शक्तिवाला होगा। इसीकारण देशावधिज्ञान और परमावधिज्ञान के अनेक भेद पाये जाते हैं और सर्वोत्कृष्ट ऐसा सर्वावधिनामक एक प्रकार का अवधिज्ञान पाया जाता है।

मति, श्रुत ज्ञान में भी देशघाति स्पर्धकों में से मंद आवरण का उदय हो तब ज्ञान का उघाड़ अधिक होता है और तीव्र आवरण का उदय हो तब ज्ञान का उघाड़ कम होता है।

लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद जीवों में श्रुत ज्ञान का सबसे हीन उघाड़ पाया जाता है उसे 'पर्यायज्ञान' कहते हैं। इसी को अक्षर का अनंतवां भाग कहते हैं। अक्षर नाम का श्रुतज्ञान का एक भेद है। पर्याय ज्ञान में ज्ञान के अनंत अविभाग प्रतिच्छेद पाये जाते हैं, उससे अनंत गुणा अविभाग प्रतिच्छेद अक्षर ज्ञान में होते हैं। अक्षरज्ञान की तरफ से बात करेंगे तो अक्षरज्ञान में ज्ञान के जितने अविभाग प्रतिच्छेद पाये जाते हैं उनके अनंतवें भाग प्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद पर्यायज्ञान में पाये जाते हैं। पर्यायज्ञान के पश्चात् अक्षरज्ञान तक बढ़ते हुये अविभाग प्रतिच्छेदवाले ज्ञान के अनेक स्थान यानि भेद पाये जाते हैं उन सबको मिलकर एक नाम दिया जाता है - पर्यायसमास ज्ञान।

जीव का पर्यायज्ञान जितना ज्ञान तो रहेगा ही, सर्वथा ज्ञानरहित कोई जीव हो ही नहीं सकता। इसका अर्थ जरा समझ लो। हमें जितना जितना या जिन जिन पदार्थों संबंधी ज्ञान पाया जाता है, उसके उतने ही आवरण करनेवाले ज्ञानावरण कर्म पाये जाते हैं। तुम जर्मन भाषा नहीं जानती, तो तुम्हारे

जर्मनभाषा ज्ञानावरण कर्म का उदय चल रहा है। अब यदि तुम जर्मन जानने लगो तो वहाँ उस ज्ञानावरण का उदय नहीं है।

उसीतरह पर्यायनामक ज्ञान निगोद को प्रकट है, इतका मतलब यह है कि उसको पर्यायज्ञानावरण कर्म का उदय नहीं है। यदि किसी जीव के पर्यायज्ञानावरण का उदय हो जाये तो जीव सर्वथा ज्ञानरहित जड़ - अचेतन हो जायेगा। यह बात तीन काल में कभी बनती नहीं। इसलिए पर्याय ज्ञान को निरावरण ज्ञान कहा है।

तो अब मेरे प्रश्न का उत्तर सोचो। क्या तुम्हें पर्याय ज्ञान है? तुम कहोगी, 'माँ, हमें निगोद समझ रखा है क्या? हम तो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य जीव हैं। हमारा ज्ञान तो उनसे अनंत गुणा है।'

इसका समाधान मैं दूसरा प्रश्न पूछकर ही दूँगी, तुम समझ लेना। मुझे बताओ, किसी करोड़पति के पास एक रुपया है या नहीं? यदि तुम्हारे पास पर्याय ज्ञान नहीं मानोगी तो तुम्हारे पर्यायज्ञानावरण का उदय मानना पड़ेगा।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका में पं. टोडरमलजी लिखते हैं - 'पर्यायज्ञानबिना कोई जीव नहीं है। केवलज्ञानीयों के भी पर्यायज्ञान संभवता है। महाज्ञान में अल्पज्ञान गर्भित जानना।' केवली भगवान के क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं होता। उनका ज्ञान तो पूर्ण निरावरण ज्ञान है। जब केवलज्ञान प्रकट होता है तब पांचों ही ज्ञानावरण कर्मों का पूर्ण क्षय पाया जाता है।

पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के जीवों को केवलज्ञान नहीं है, यह उनका औदयिक अज्ञान है और उनको मति श्रुत आदि ज्ञान हैं वह उनका क्षायोपशमिक ज्ञान है।

यहाँ एक बात समझ लो। केवलज्ञानावरण प्रकृति सर्वघाति है परंतु वह ज्ञान का सम्पूर्ण घात नहीं करती, मात्र अपने प्रतिपक्षी केवलज्ञान का सर्वथा घात करती है। उसके उदय में तो अन्य चार ज्ञान का क्षयोपशम चालू रहता है। उसीप्रकार स्त्यानगृध्दि आदि पांच दर्शनावरण कर्म सर्वघाति हैं परंतु वे दर्शन का सम्पूर्ण घात नहीं करती, उनका प्रतिपक्षी जो जागृत अवस्था उसका पूर्ण घात

करती हैं। उनके उदय में अन्य चार दर्शनावरण का उदय या क्षयोपशम यथायोग्य चलता रहता है। अर्थात् केवलदर्शनावरण सर्वघाति है उसका उदय १२ वें गुणस्थान के अंत तक निरंतर रहता है और उसके निमित्त से केवलदर्शन का पूर्ण घात होता है परंतु अन्य चक्षु, अचक्षु दर्शन या अवधिदर्शन होते रहते हैं।

जागृत अवस्था में चार दर्शनावरण का उदय रहता है और निद्रावस्था में चार दर्शनावरण के साथ पांच निद्रा में से किसी एक निद्रा दर्शनावरण कर्म का उदय रहता है।

कर्मों का क्षय होकर क्षायिक भाव प्रकटता है और क्षयोपशम होकर क्षायोपशमिक भाव प्रकट होता है। क्षायिक ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान सर्वघाति और देशघाति दोनों ही प्रकारके ज्ञानावरण का क्षय होनेपर प्रकट होता है, क्षायिक दर्शन अर्थात् केवलदर्शन सर्वघाति और देशघाति दोनों ही प्रकार के दर्शनावरण का क्षय होनेपर प्रकट होता है। क्षायिक सम्यक्त्व सर्वघाति मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और देशघाति सम्यक् प्रकृति इन दोनों ही प्रकार के दर्शनमोहनीय का क्षय होनेपर प्रकट होता है। क्षायिक चारित्र भी दोनों ही प्रकार के चारित्रमोहनीय प्रकृति का क्षय होनेपर होता है। अंतराय कर्म की मात्र देशघाति प्रकृति होती हैं इसलिए उनके क्षय से क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य प्रकट होते हैं।

परंतु क्षयोपशम भाव तो मात्र देशघाति कर्मों के क्षयोपशम होनेपर ही होता है। सर्वघाति प्रकृतियों में क्षयोपशम नहीं होता। उसीप्रकार अघातिकर्मों में भी क्षयोपशम होने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

ऊपर कह आये उसप्रकार क्षायिक भाव तो नौ ही हैं और अब देशघातिपर घटायेंगे तो अठारह क्षायोपशमिक भाव तुम्हारे ख्याल में सहज रीति से आयेंगे। क्षायोपशमिक भाव में उदय तो देशघाति का होगा। उसे समझने के लिये सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियों के नाम देखते हैं।

मूलप्रकृति	सर्वघातिप्रकृति	देशघातिप्रकृति
(१) ज्ञानावरण	केवलज्ञानावरण	मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण
(२) दर्शनावरण	केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृध्दि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला	चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण
(३) मोहनीय		
दर्शनमोहनीय	मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व	सम्यक् प्रकृति
चारित्रमोहनीय	अनंतानुबंधी - ४	संज्वलन ४
	अप्रत्याख्यानावरण - ४	नोकषाय ९
	प्रत्याख्यानावरण - ४	
(४) अंतराय	-	दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय
	कुल २१	कुल २६

अब देशघाति की तरफ देखकर क्षायोपशमिक भाव याद करो। मति, श्रुत आदि ४ सम्यक् ज्ञान और ३ कुज्ञान, ३ दर्शन, क्षयोपशम सम्यक्त्व, सराग चारित्र, संयमासंयम और दानादि ५।

इसतरह विचार करोगी तो सहज ख्याल में आता है - याद रह जाता है करना नहीं पड़ता।

अब और थोड़े पारिभाषिक शब्दों के अर्थ देखकर अपना विषय प्रारंभ करेंगे।

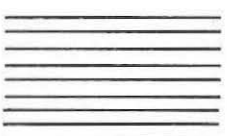

जीव के परिणामों के निमित्त से जब सत्ता में पड़े हुये कर्मों की स्थिति और

अनुभाग घटता है तब उसे 'अपकर्षण' कहते हैं और जब बढ़ता है तब उसे 'उत्कर्षण' कहते हैं। अपकर्षण में स्थिति की हानि होती है उसे चार्ट द्वारा समझाते हैं तब पहले हमने निषेक रचना देखी थी उसमें ऊपर के निषेकों के कुछ परमाणु नीचे के निषेकों में आ मिलते हैं इसप्रकार कथन किया जाता है और चार्ट में भी दिखाया जाता है।

कर्म परमाणु तो हैं वहीं पर रहते हैं - ऊपर नीचे दौड़धूप नहीं करते। हम समाचार पत्र में देखते हैं कि आंतरराष्ट्रीय बाजार में रुपये की कीमत कम होती है तो उसे चार्ट द्वारा नीचे की ओर रेखांकित करके बताया जाता है। परंतु हमारे तिजोरी में रखे हुये रुपये के नोट ऊपर से नीचे की ओर नहीं लुढ़कते। अनुभाग के बारे में भी ऐसा ही समझना। जब स्पर्धकों का अनुभाग घटता है तो कथन आता है कि ऊपर के स्पर्धकों में से कुछ परमाणु नीचे के स्पर्धकों में आ मिले। उसका अर्थ यह समझना कि उनका अनुभाग कम हो गया।

ऊपर के स्पर्धक या निषेक कायम रहकर उनमें से कुछ परमाणु नीचे के स्पर्धक या निषेकों में आ मिलते हैं तब उसे अपकर्षण कहते हैं परंतु विशिष्ट विशुध्द परिणामों के निमित्त से ऊपर के अनेक निषेकों का समूह नष्ट होकर जब उनके सभी परमाणु नीचे के निषेकों में आ मिलते हैं तब तो उसे 'स्थितिकांडकघात' कहते हैं और जब ऊपर के अनेक स्पर्धकों का अभाव होकर उनके सभी परमाणु नीचे के कम अनुभागवाले स्पर्धकों में आ मिलते हैं तब उसे 'अनुभागकांडकघात' कहते हैं।

यह बात ठीक से समझ लो कि कांडकघात द्वारा कर्म की स्थिति और अनुभाग दोनों घटते हैं परंतु कर्म नष्ट नहीं होता, वह अकर्मरूप नहीं होता। नीचे के निषेकों में परमाणुओं की संख्या बढ़ जाती है। इसतरह सत्ता में पड़े हुये कर्मों की स्थिति घट जाती है, उनकी फल देने की शक्ति भी हीन होती है।

कर्मों में और भी अनेक परिवर्तन होते हैं जिनके नाम और उनका स्वरूप यथास्थान आगे समझाऊँगी।

अब आगामी पत्र से अपना विषय प्रारंभ होगा।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

प्रथमोपशम सम्यक्त्व-पात्रता

पत्रांक ५ ३० जुलाई २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

कर्मों के नाम तथा सामान्य जानकारी और कुछ पारिभाषिक शब्दों के अर्थ देखने के पश्चात् अब हम मूल विषय की चर्चा प्रारंभ करते हैं। पूर्व पीठिका में ही लम्बी चर्चा हो गयी है, परंतु वह आवश्यक ही थी। यह बात आगे चलकर तुम्हारे ख्याल में आयेगी ही। पत्रों द्वारा तो हम अत्यंत स्थूल चर्चा करेंगे। इन विषयों की सूक्ष्म चर्चा गोम्मटसार - लब्धिसार, धवला आदि ग्रंथों में से जानना योग्य है।

लब्धि का अर्थ है प्राप्ति या लाभ - कुछ उपलब्धि। हमारा लाभ अनंत सुख की प्राप्ति में है। मोक्ष अनंत सुखरूप है और उसकी प्राप्ति का उपाय जो संवर और निर्जरा है वह भी सुखरूप ही है। इसलिए उनकी प्राप्ति होना लब्धि है।

जितना जितना आस्रव और बंध कम होगा, उतना उतना दुःख कम होगा। कर्म की भाषा में कहना हो तो बंध की हानि होना अर्थात् विशिष्ट कर्म प्रकृति का बंध रुकना संवर है और पूर्वबध्द कर्मों के सत्त्व की हानि होना अर्थात् कर्मों का अधिक प्रमाण में खिर जाना निर्जरा है। यह कार्य सम्यग्दर्शन और अधिकाधिक आत्मस्थिरता द्वारा अर्थात् चारित्र द्वारा होता है - किसी भी उच्च प्रकार के शुभभाव द्वारा संभव नहीं है। इसीलिए लब्धिसार ग्रंथ में कहा है कि दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होना ही लब्धि है।

लब्धि शब्द अनेक भिन्न भिन्न अर्थों में या संदर्भ में शास्त्र में आता है। क्षयोपशम ज्ञान में लब्धि और उपयोग दो भेद पाये जाते हैं। क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं या उसके निमित्त से आत्मा में ज्ञान के उघाड़रूप जो शक्ति होती है उसे लब्धि कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र है 'लब्धिउपयोगौ भावेन्द्रियम्'।

गुण प्राप्ति के अर्थ में विशिष्ट तप के प्रभाव से प्राप्त होनेवाली ऋध्दि को भी लब्धि कहते हैं।

दानांतराय आदि अंतराय कर्म की पांच प्रकृति के क्षयोपशम या क्षय से प्राप्त होनेवाले दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य को भी लब्धि कहते हैं। अरहंत भगवान की स्तुति में उनका वर्णन करते समय लिखा है, 'नवकेवललब्धिरमा धरंत' अर्थात् अरहंत भगवान के नौ क्षायिक लब्धि होती हैं। वे इसप्रकार हैं - क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य।

हमारा विषय 'पंचलब्धि' है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पूर्व होनेवाली पांच लब्धि की हम चर्चा करेंगे। उनके नाम इसप्रकार हैं -

(१)क्षयोपशमलब्धि (२)विशुध्दिलब्धि (३)देशनालब्धि (४)प्रायोग्यलब्धि (५) करणलब्धि। इसी को सागारधर्मामृत ग्रंथ में अन्य शब्दों में कहते हैं -

(१)संज्ञित्व (२) शुध्दि (३) देशना (४) कर्महानि (५)अस्तमिथ्यात्व।

नियमसार ग्रंथ की तात्पर्यवृत्ति टीका में पांच लब्धि के नाम इसप्रकार हैं -

(१) काललब्धि (२) करणलब्धि (३) उपदेशलब्धि

(४) उपशमलब्धि (५) प्रायोग्यतालब्धि।

इन पांच लब्धिपूर्वक प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। लब्धि का स्वरूप देखने के पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व का अर्थ समझेंगे। सम्यक्त्व शब्द से तुम भली भांति परिचित हो। 'तत्त्वार्थश्रध्दानं सम्यग्दर्शनम्' सूत्र का अर्थ हमने पहले विस्तार से देखा है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सबसे पहले सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब वह औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है। सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी कर्मों का उपशम करके सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। इन दोनों ही प्रकार से जब विशिष्ट कर्मों का उपशम करके मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

सादि और अनादि का अर्थ याद है ना? स+आदि = सादि और अन+आदि = अनादि। जिस जीव ने अनादिकाल से कभी सम्यक्त्व प्राप्त किया नहीं है, जो अनादिकाल से मिथ्यात्व अवस्था में ही है उसे अनादि

मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जो जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद दुबारा अतत्त्वश्रध्दान से मिथ्यादृष्टि होता है उसे सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

अब कौनसे कर्मों का उपशम करके जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसे देखते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि के पास दर्शनमोहनीय कर्म की एक मिथ्यात्व प्रकृति सत्ता में होती है, क्योंकि बंध एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही होता है, जब सादि मिथ्यादृष्टि के पास दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति कुछ काल तक सत्ता में रहती हैं। क्योंकि पहली बार प्रथमोपशम सम्यक्त्व होनेपर मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होते हैं।

जो जीव पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में जाता है वह दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ का उपशम करते हैं। वहाँ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चार इसप्रकार पांच प्रकृति का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है और सादि मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीय की तीन और अनंतानुबंधी की चार इसप्रकार सात प्रकृति का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जब जब जीव ऊपर बताये हुये कर्मों का उपशम करके मिथ्यात्व में से सम्यक्त्व प्राप्त करेगा तब तब उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहेंगे। पहली बार सम्यक्त्व हुआ इसलिए उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं कहते परंतु जब जब कोई मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करेगा तब तब उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं - भले वह पहली बार हो, दूसरी बार हो या असंख्यातवें बार हो।

क्यों? अचरज में क्यों पड़ गयी? तुम इस भ्रम में मत रहना कि एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया तो हमारा काम हो गया। किसी जीव को सम्यक्त्व होकर छूट गया तो अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरावर्तन काल तक वह मिथ्यात्व में भटक सकता है। यह अनंत काल है। तत्त्वश्रध्दानी हुआ, आत्मा का अनुभव किया तो वह छूटकर जीव दुबारा मिथ्यात्व में जा सकता है।

हां, द्रव्यानुयोग में और उपदेश की मुख्यता में जहाँ पुरुषार्थ की प्रेरणा दी जाती है, वहाँ गिरने की बात नहीं करते। परंतु यहाँ तो करणानुयोग में वस्तुस्थिति बतायी जाती है। ये बातें केवलीगम्य हैं। एक भी जीव में यदि इतनी बार सम्यक्त्व से गिरना होता है तो वह बात करणानुयोग जरूर बतायेगा।

यह पढ़कर ड़रने की आवश्यकता नहीं है, उसीप्रकार सम्यक्त्व होनेपर फूल जाने की भी जरूरत नहीं है। कोई कहेगा, ऐसी गिरने की संभावना है, तो हम सम्यक्त्व का पुरुषार्थ ही नहीं करेंगे; तो उसे समझाते हैं कि एक बार सम्यक्त्व हुआ तो अल्पकाल में तू मुक्त होगा ही, अब तू चाहेगा तो भी अधिक काल संसार में भटक नहीं सकता। यदि सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर किसी के मद हो जाये, अभिमान करने लगे तो पर्याय में अहंबुध्दि के कारण भ्रष्ट होकर वह मिथ्यात्व में आ जायेगा। उससे कहते हैं, पल्य के असंख्यातवें भाग बार जीव मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में और सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में जा सकता है, इसलिए अपने परिणामों की सम्हाल रखना, दृढ़ श्रध्दानी होना।

सम्यक्त्व के तीन प्रकार हैं १)औपशमिक या उपशम सम्यक्त्व २)क्षायोपशमिक या क्षयोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व और ३)क्षायिक सम्यक्त्व।

दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय होनेपर जीव में जो अवस्था पायी जाती है उसे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपशम के समय इन कर्मों के उदय का अभाव पाया जाता है। कर्म सत्ता में तो पड़े रहते हैं परंतु अंतर्मुहूर्त काल तक दबे रहते हैं, उदय में नहीं आते। क्षयोपशम सम्यक्त्व में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चार इन छहों का उपशम रहता है और सम्यक् प्रकृति का उदय रहता है जो देशघाति प्रकृति होने के कारण सम्यक्त्व का घात नहीं करती। कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव पहले गुणस्थान में से क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके चौथे में जा सकता है या कोई उपशम सम्यक्त्वपूर्वक क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। क्षायिक सम्यक्त्व में इन कर्मों का सत्ता में से पूर्ण नाश पाया जाता है।

औपशमिक या उपशम सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं (१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

पहली बार हुआ वह प्रथमोपशम और दूसरी बार हुआ वह द्वितीयोपशम ऐसा इसका अर्थ नहीं है। प्रथमोपशम की बात तो हमने देखी थी। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व किसे और कब होता है उसे अब देखते हैं। जब छठवें - सातवें गुणस्थानवाले मुनिराज जो क्षयोपशम सम्यक्त्व के धारी हैं और जो उपशम श्रेणी चढ़ने के अर्थात् ८वें, ९वें, १०वें, ११वें गुणस्थान में आरोहण करने के सन्मुख होते हैं, तब वे ७ वें गुणस्थान में क्षयोपशम सम्यक्त्व में से दुबारा उन कर्मों का उपशम करके उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

हमारी चर्चा तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व की अर्थात् मिथ्यात्व में से सम्यक्त्व प्राप्त करने संबंधी चल रही है। सबसे पहले हम देखेंगे कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व किसे प्राप्त हो सकता है और किसे प्राप्त नहीं हो सकता?

'चारों गतिवाला, भव्य, मिथ्यादृष्टि, संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, गर्भज (मनुष्य और तिर्यंचों में), मंदकषायरूप विशुध्दता का धारी, जाग्रत, साकार ज्ञानोपयोगी जीव पांच लब्धिपूर्वक पांचवी करणलब्धि के अनिवृत्तिकरण के अनंतर समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

अब इनमें जो बातें पात्रता के रूप में बतायी हैं उनपर चर्चा करते हैं।

मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी इन चारों ही गतिवाले मिथ्यादृष्टि जीवों को प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो सकता है परंतु भव्य जीवों को ही होगा, अभव्य जीवों को नहीं।

तुम कहोगी, 'ऐसा अन्याय क्यों? उनके कौनसे कर्म के कारण वे अभव्य हैं?'

इसका समाधान इसप्रकार है कि भव्यत्व और अभव्यत्व किसी कर्म के कारण नहीं होता। उसे जीव का पारिणामिक भाव कहा है अर्थात् इसमें किसी कर्म की अपेक्षा नहीं होती। वैसी ही सहज योग्यता उन जीवों में अनादि की पायी

जाती हैं। अभव्य जीव तीन काल में कभी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते। उनके प्रायोग्यलब्धि तक चार लब्धि तो हो सकती हैं परंतु करणलब्धि नहीं होगी और सम्यक्त्व भी कभी नहीं होगा।

भव्य जीवों में पात्रता तो होती है। उनमें भी काललब्धि आनेपर भवितव्यतानुसार पुरुषार्थ से सम्यक्त्व प्राप्त होगा, उसमें देशनारूप निमित्त भी होगा। जो अर्धपुद्गलपरावर्तन काल में मोक्ष जायेंगे उनके सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता होती है। जिन्हें उससे अधिक काल बाद मोक्ष होगा या जिन्हें अनंतानंत काल पश्चात् भी मोक्ष नहीं होनेवाला है ऐसे दूरानुदूर भव्यों को सम्यक्त्व नहीं होगा।

हमने 'कारण कार्य रहस्य' पुस्तक में पांच समवायों की चर्चा की थी। सम्यक्त्व प्राप्ति में भी पांचों समवाय होंगे ही, मात्र काललब्धि आयी है इसलिए पुरुषार्थ बिना ही सम्यक्त्व प्रकट होगा यह बात संभव नहीं है।

तुम कहोगी, 'कर्म को उपशमाने का पुरुषार्थ करके तो सम्यक्त्व होगा ना?'

देखो बेटी, जीव का पुरुषार्थ जीव में अपने स्वयं में होता है। किसी भी द्रव्य की कोई भी पर्याय अन्य द्रव्य ला नहीं सकता, पलटा नहीं सकता, नष्ट भी नहीं कर सकता। प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के पहले तथा पश्चात् कर्मों में तथा नवीन होनेवाले कर्मबंध में अनेक स्थित्यंतर - अवस्थांतर होते हैं। कर्म की ये सब अवस्थायें कर्म में उनकी स्वयं की योग्यता से होती हैं। जीव केवल तत्त्वविचार और तत्त्वनिर्णय करता है - यही पुरुषार्थ है। तत्त्वविचार करते हुये, कर्म के उपशमादि स्वयं हो जाते हैं, जीव को कर्म में कुछ करना नहीं पड़ता - वह कुछ कर ही नहीं सकता।

इसतरह हमने देखा कि चारों गतिवाले भव्य मिथ्यादृष्टि को प्रथमोपशम सम्यक्त्व होगा। जरा गौर करना, हमने मिथ्यादृष्टि को कहा सम्यग्दृष्टि को नहीं। क्योंकि क्षयोपशम सम्यक्त्व उपशम सम्यग्दृष्टि को होता है अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्वपूर्वक क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है और क्षयोपशम

सम्यक्त्वपूर्वक क्षायिक सम्यक्त्व होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व भी क्षयोपशम सम्यक्त्वपूर्वक होता है। इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट करने का कार्य मिथ्यादृष्टि जीव ही करेगा।

चारों गतिवाले जीवों में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों को ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होगा, असंज्ञी जीवों को नहीं, अपर्याप्तों को भी नहीं।

पर्याप्त और अपर्याप्त की चर्चा हमने 'करणानुयोग परिचय' में विस्तार से की थी। जिसकी पर्याप्ति पूर्ण होती है उसे पर्याप्त जीव कहते हैं। उसके पर्याप्त नामकर्म का उदय पाया जाता है। जिसकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, उसके पूर्व ही श्वास के अठारहवें भाग में जीव मरण को प्राप्त होता है उसे अपर्याप्त कहते हैं। उसके अपर्याप्त नामकर्म का उदय पाया जाता है। उसको लब्धि अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्त) कहते हैं अथवा क्षुद्रभववाले जीव कहते हैं।

पर्याप्त जीवों में भी जब तक दूसरी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक उन्हें निर्वृत्ति अपर्याप्त कहते हैं। चारों ही गतिवाले पर्याप्त जीव प्रारंभ में निर्वृत्ति अपर्याप्त होते हैं और शरीर पर्याप्ति पूर्ण होनेपर पर्याप्त कहलाते हैं। सभी पर्याप्ति पूर्ण होने तक उनका मरण नहीं होता। मनुष्य में सभी गर्भज मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं, सम्मूर्च्छन मनुष्य सब लब्धि अपर्याप्त ही होते हैं।

देव, नारकी और मनुष्य तो नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं, तिर्यंचों में एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव पाये जाते हैं। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को सम्यक्त्व प्राप्ति की पात्रता ही नहीं होती - उस पर्याय में उन्हें सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता और सम्यग्दृष्टि जीव मरकर इन पर्यायों में जन्म भी नहीं लेता। संज्ञी जीवों में ही इसकी पात्रता होती है इसका कारण यह है कि मनसहित जीवों के ज्ञान का इतना उघाड़ पाया जाता है कि उन्हीं में उपदेश सुनना, धारणा में लेना, उसपर विचार करना, तत्त्वनिर्णय करना आदि बातें संभव हैं। मनरहित - असंज्ञी जीवों में यह पात्रता नहीं है।

देव और नारकी जीव पर्याप्ति पूरी होने के पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट कर सकते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों में पर्याप्त गर्भज होना आवश्यक है।

अपर्याप्त जीवों को और सम्मूर्च्छन जीवों को प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं होता। मनुष्य में गर्भसहित आठ वर्ष पूर्ण होनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति की पात्रता होती है उसके पहले नहीं। गर्भज तिर्यंचों में जन्म के पश्चात् यथायोग्य काल में यह पात्रता होती है। उस काल को दिवस पृथक्त्व कहा है अर्थात् ३ से ९ दिन।

तुम पूछोगी, 'हमने तो पूज्य कानजी स्वामीजी के प्रवचनों में अनेक बार पढ़ा है कि स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्यात सम्मूर्च्छन महामत्स्य सम्यग्दृष्टि हैं, पांचवें गुणस्थानवर्ती हैं। और तुम तो गर्भज तिर्यंचों की बात कर रही हो। गर्भज और सम्मूर्च्छन क्या होते हैं?'

हम बात तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व की कर रहे हैं। सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जो सादि मिथ्यादृष्टि हैं, वे क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं परंतु प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं। गर्भज का अर्थ माता के गर्भ में उत्पन्न होनेवाले। माता के स्त्रीबीज और पिता के वीर्य के निमित्त से उनके शरीर की उत्पत्ति होती है। सम्मूर्च्छन जीव 'आसमंतात्' यानि वातावरण में से पुद्गलों का अर्थात् आहारवर्गणा का ग्रहण कर उन्हें शरीररूप से परिणमाते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन तिर्यंच पर्याप्त भी हो सकते हैं अपर्याप्त भी। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सारे ही तिर्यंच नियम से सम्मूर्च्छन तिर्यंच होते हैं, उनमें भी पर्याप्त और अपर्याप्त जीव होते हैं।

मनुष्य में भी सम्मूर्च्छन जीव पाये जाते हैं जो लब्धि अपर्याप्तक होते हैं। आर्य खंड की महिलाओं की काख आदि विशिष्ट अंगों में इनकी उत्पत्ति पायी जाती है।

अब बात निकली ही है तो देव और नारकी के जन्मसंबंधी बात भी करेंगे। उनमें उपपाद जन्म होता है। स्वर्ग और नरकों में माता पिता द्वारा पुत्रों की उत्पत्ति नहीं होती। उनके उपपाद के जन्मस्थान हैं, वहाँ एक अंतर्मुहूर्त में जीव पूर्ण वृध्दिसहित - युवा ही जन्मता है। स्वर्गों में बालबच्चे नहीं होते - वहाँ के जीवों के बाल भी नहीं हैं और बच्चे भी नहीं हैं।

तुम कहोगी, 'हाश, कितना अच्छा! हम तो दिनभर बच्चों की देखभाल करने में, उन्हें खिलाने पिलाने में, उनका अभ्यास - होमवर्क लेने में पागल की भांति दौड़धूप करते रहते हैं। इसलिए वहाँ स्वर्गसुख कहते होंगे। हमारा पूरा दिन तो बच्चों को सम्हालने में और बालों को संवारने में ही चला जाता है।'

चलो, इतना तो एहसास हो रहा है, यह भी कुछ कम नहीं। परंतु कहीं ऐसा न हो कि इसी में जिंदगी चली जाये और हमारी उम्र में जब बच्चे और बाल दोनों ही छोड़कर चले जाते हैं तब उनकी याद में पूरा दिन बिताना पड़े।

किसी भी संज्ञी पंचेन्द्रिय को सम्यक्त्व हो जायेगा ऐसी बात नहीं है। मंद कषायरूप विशुध्द परिणामवाला जीव ही पात्र होता है। क्योंकि कषाय मंद हुये बिना और धर्मानुरागरूप बुध्दि हुये बिना जीव शास्त्रश्रवण करने के लिये तैयार नहीं होगा। तीव्र कषायी जीवों को धर्मानुरागरूप परिणाम नहीं होते, उन्हें देवादिकों की श्रध्दा नहीं होती, आचार्यों का उपदेश सुनने की वृत्ति उनमें नहीं पायी जाती। जो जीव अपना स्वयं का अर्थात् आत्मा का स्वरूप सुनने के लिये भी तैयार नहीं है उसे सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? इसकारण संक्लेश परिणामवाले तीव्र कषायी जीवों को सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता नहीं होती।

तुम पूछोगी, 'नारकी जीवों में तो अशुभ लेश्या होती हैं, उनमें तीव्र क्रोधादि परिणाम पाये जाते हैं, तो उन्हें मंदकषायी कैसे कह सकते हैं? हां, स्वर्गों के देवों में तीन शुभ लेश्या होती हैं उन्हें तो हम मंदकषायी कह सकते हैं।'

नरकों में और स्वर्गों में अपने अपने नरक या स्वर्ग की लेश्या पायी जाती है। एकेक लेश्या में तो असंख्यात लोक प्रमाण इतने स्थान होते हैं। जब मंदकषायी कहते हैं, तब उस जीव के पूर्व परिणामों की अपेक्षा से उसके कषाय मंद हो जाते हैं ऐसा समझना।

मनुष्य और तिर्यंचों में चौथे गुणस्थान तक तो छहों लेश्या पायी जाती हैं। परंतु प्रथमोपशम सम्यक्त्व होनेसे पहले उन्हें नियम से पीत, पद्म या शुक्ल लेश्यारूप मंद कषाय में ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है, अशुभ लेश्या में नहीं।

सम्यक्त्व की प्राप्ति जाग्रत अवस्था में होती है, नींद में नहीं। जाग्रत अवस्था में भी साकार ज्ञानोपयोगवाले को होगी, निराकार दर्शनोपयोगवाले को सम्यक्त्व का प्रारंभ नहीं होगा। किसी को उपशम सम्यक्त्व के काल में बाद में दर्शनोपयोग हो सकता है।

ज्ञानोपयोग को साकार कहते हैं क्योंकि वह ज्ञेयों के विशेषों को जानता है और दर्शनोपयोग को निराकार कहते हैं क्योंकि उसमें मात्र सामान्य अवलोकन अर्थात् प्रतिभास होता है। पदार्थों के विशेषों को जानना ही ज्ञान का आकार कहलाता है। जैसे सुगंध को जाना इस बात को कहना हो तो हम कहेंगे कि ज्ञान सुगंधाकार हुआ। इसमें आकार का अर्थ आकृति या shape नहीं है। ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार की चर्चा हमने 'कारण कार्य रहस्य' पुस्तक में विस्तार से की ही थी।

मनोयोग, वचनयोग या काययोग में से किसी भी योगवाले जीव को प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी।

उपरोक्त पांच लब्धिपूर्वक ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होगा।

कोई पूछते हैं कि हमें कितनी लब्धि प्राप्त हैं? हम अनेक सालों से शास्त्र स्वाध्याय करते आये हैं, हमें चार लब्धि तो हैं ना?

जीव चार लब्धि में ही क्यों संतुष्ट हो रहा है? अभव्य जीव को भी अनंत बार प्रायोग्यलब्धि तक चार लब्धि प्राप्त हो सकती हैं। यदि भव्य जीव भी प्रायोग्यलब्धि तक आकर करणलब्धि में नहीं जायेंगे - आत्मसन्मुख पुरुषार्थ नहीं होगा तो उन्हें भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की महिमा और महानता जब तक भासित नहीं होगी तब तक इन तत्त्वों को सुनकर, याद कर और धारणा में रखकर भी कोई फायदा नहीं हैं। उसरूप परिणमन होगा तो ही कार्य होगा।

इनमें एक एक लब्धि का काल अंतर्मुहूर्त है और सबका मिलकर काल भी एक अंतर्मुहूर्त है।

तत्त्वजिज्ञासा, आत्मा को जानने की तीव्र रुचि उत्पन्न होती है तब विशुध्दि भी वृध्दिंगत होती जाती है, उस समय देशना सुनकर या पूर्व में सुनी हुयी देशना को - जिनेन्द्रकथित तत्त्वों को विचार में लेता है - तत्त्वविचार और तत्त्वनिर्णय करने लगता है तब ये चारों ही लब्धि एकसाथ होती हैं। इसीलिए देशना तो पूर्वभव की भी हो सकती है। इसकी अधिक चर्चा देशनालब्धि के प्रकरण में भविष्य में करेंगे।

तुम कहोगी, 'बस, तत्त्वजिज्ञासा हुयी, तत्त्व सुने, याद किये और हो गयी आत्मानुभूति? कुछ करना धरना नहीं रहा? तो द्रव्यानुयोग जानकर ही काम हो जायेगा। करणानुयोग नहीं जाने तो भी हो जायेगा ना? चरणानुयोग की अभी जरूरत ही नहीं है'। देखो जीव ने आज तक कुछ क्रिया करके ही धर्म होगा माना था। अब क्रिया से कुछ नहीं होगा सुनकर क्रिया छोड़ना चाहता है। उसमें भी इसके पर की कर्तृत्वबुध्दि तो कायम ही रही क्योंकि मैं कर सकता हूँ परंतु अब नहीं करूंगा मानता है। सम्यग्दर्शनरूपी कार्य का कारण बाह्य में देव, गुरु, शास्त्र, विशिष्ट आचरण, शारीरिक क्रिया मानकर इसने अपनी 'कारणविपरीतता' कायम रखी है।

यहाँ हमारा विषय करणानुयोग द्वारा पांच लब्धि समझने का है, तथापि जो जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसके आचरण में चरणानुयोग के कथन अनुसार सहज ही परिणामों की विशुध्दि होती है। उसका लौकिक जीवन भी सदाचार और नैतिकता से युक्त होता है। वह अष्ट मूलगुण का धारक होता है अर्थात् पांच उदुम्बर फल और मांस, मद्य, मधु का त्यागी होता है। उसके सप्त व्यसनादिक नहीं होते। स्वच्छंदी जीवन तथा हिंसादिक क्रूर परिणाम उसके नहीं रहते। वह अभक्ष्य भक्षण का त्यागी और अन्याय, अनीति का त्यागी होता है।

द्रव्यानुयोग के अनुसार वह तत्त्वविचार करता है। प्रथमानुयोग पढ़कर वह संसार से भयभीत होता है, तीर्थंकरादि पुरुषों के चरित्र पढ़कर अपना पुरुषार्थ बढ़ाता है।

करणानुयोग के कथन अनुसार कर्मों की अवस्थायें सहज स्वयमेव होती है। जीव तो तत्त्वविचार में इतना लीन हो जाता है कि अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व सहज प्राप्त हो जाता है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये पात्रता कैसी होती है इसकी चर्चा हमने 'करणानुयोग परिचय' के पुस्तक में विस्तार से देखी ही थी। अब यहाँ हमारा विषय है प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्राप्ति की प्रक्रिया। इसमें जीव के परिणाम तथा कर्मों की अवस्था के वर्णन द्वारा हम सम्यक्त्व होने के पूर्व होनेवाली पांच लब्धि का स्वरूप देखने जा रहे हैं।

अब हम क्रमशः एक एक लब्धि का स्वरूप देखेंगे।

आज हम यहीं विराम लेते हैं।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

क्षयोपशमलब्धि और विशुध्दिलब्धि

पत्रांक ६ १८ अगस्त २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व किसे प्राप्त हो सकता है इस बात को देखने के पश्चात् अब उसके पूर्व होनेवाली पांच लब्धि का स्वरूप हम देखने जा रहे हैं। उनके नाम तो हम पहले देख चुके हैं। उनमें से पहली क्षयोपशमलब्धिसंबंधी हम चर्चा करेंगे।

क्षयोपशम शब्द से अब तुम परिचित हो। ज्ञान के उघाड़ को क्षयोपशम या क्षयोपशम ज्ञान कहते हैं। क्षयोपशम कर्म की अवस्था का भी नाम है जिसकी चर्चा हमने विस्तार से की थी। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों का क्षयोपशम अनादिकाल से सभी जीवों में पाया जाता है। मिथ्यात्व नामक पहले गुणस्थान से क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक और एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक सब में इन कर्मों का क्षयोपशम पाया जाता है। क्षयोपशम नामक सम्यक्त्व भी है जो चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है। क्षयोपशम चारित्र भी होता है।

हमारी बात क्षयोपशम की नहीं है, अपितु क्षयोपशमलब्धि की है। क्षयोपशमलब्धि मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में ही पायी जाती है परंतु संज्ञी पंचेन्द्रिय होना अर्थात् ज्ञान का इतना उघाड़ होना क्षयोपशमलब्धि नहीं कहलाती। उसकी परिभाषा इसप्रकार है -

क्षयोपशमलब्धि : 'ज्ञानावरणादि समस्त अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों की शक्ति अर्थात् अनुभाग जिस काल में समय समय प्रति अनंत गुणा घटता अनुक्रमरूप होकर उदय में आने लगे उस काल में क्षयोपशमलब्धि होती है। अप्रशस्त कर्मों की शक्ति हीन हीन होकर उदय में आती रहती है।'

'अनंत गुणा घटता' का अर्थ समझ लो। जब किसी संख्या का अनंत गुणा कहेंगे तो उसे अनंत से गुणा करना और जब उसका अनंत गुणा घटता या अनंत गुणा घाटि कहेंगे तो अनंतवां भाग समझना। मान लो, १६ संख्या का चार गुणा कहेंगे तो १६×४ = ६४ संख्या होगी और यदि १६ संख्या को चार गुणा घटता कहेंगे तो १६÷४ = ४ संख्या आयेगी।

जीव ने पूर्व में बांधे हुये और सत्ता में पड़े हुये जो अप्रशस्त कर्म हैं, उनका अनुभाग घटता जाता है और प्रतिसमय पूर्व अनुभाग से अनंतवां भागरूप रह जाता है। उदय में आते समय भी अनंतवां भाग होकर उदय में आता रहता है। यहाँ केवल अप्रशस्त कर्मों की ही बात की है, प्रशस्त कर्मों की नहीं। पहले हमने अप्रशस्त कर्मों की विस्तार से चर्चा की थी, याद है ना?

सर्व घातिकर्म अप्रशस्त ही हैं। अघातिकर्मों में प्रशस्त और अप्रशस्त दो भेद हैं। घातिकर्मों में ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के अपने अपने अनंत स्पर्धक हैं। उनमें मंद अनुभाग से तीव्र अनुभाग तक के स्पर्धकों के ४ - ४ भेद या स्थान हमने देखे थे - लता, दारु अस्थि और शैल। अघातिकर्मों की जो अप्रशस्त प्रकृति हैं उनके स्पर्धकों के भी ४ - ४ स्थान हैं - निंब, कांजीर, विष और हलाहल।

इन ४ - ४ स्थानों में अनंत स्पर्धक और एक एक स्पर्धक में अनंत अनंत वर्गणा होती हैं, तथा एक एक वर्गणा में अनंत अनंत वर्ग होते हैं। अभव्य राशि से अनंत गुणा और सिध्दराशि का अनंतवां भागवाला जो अनंत है उतने वर्ग यानि कर्मपरमाणु एक वर्गणा में होते हैं और उतनी ही वर्गणायें एक स्पर्धक में होती हैं।

इन सभी अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग अर्थात् फल देने की शक्ति प्रतिसमय अनंतवें भागप्रमाण हीन होती जाती है और उदय में आती है।

अब क्षयोपशम और क्षयोपशमलब्धि इन दोनों में जो अंतर है वह तुम्हारे ख्याल में आ जायेगा। क्षयोपशम तो केवल देशघाति प्रकृति में ही पाया जाता है और क्षयोपशमलब्धि में अनुभाग प्रतिसमय अनंतगुणा घटता है वह कार्य सभी घातिकर्मों में और अघातिकर्मों के अप्रशस्त प्रकृतियों में होता रहता है।

क्षयोपशम में तो देशघाति कर्मों का जितना अनुभाग है उतना ही उदय में आता है और क्षयोपशमलब्धि में अनुभाग प्रतिसमय अनंतवां भाग होकर उदय में आता रहता है। क्षयोपशम तो निरंतर वर्तता है, नींद में, बेहोषी में भी कायम रहता है परंतु क्षयोपशमलब्धि तो अंतर्मुहूर्त मात्र होती है, जाग्रत अवस्था में होती है।

क्षयोपशम तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अंतराय के देशघाति प्रकृति में पाया जाता है। परंतु क्षयोपशमलब्धि में इन प्रकृतियों के अलावा मिथ्यात्व और चारित्रमोहनीय कर्मों का अनुभाग भी अनंत गुणा घटता हुआ उदय में आता है, उनका तीव्र अनुभाग उदय न होकर, मंद अनुभाग उदय होता है और वह भी प्रतिसमय मंदतर होता जाता है।

जिसे शैलभागरूप या अस्थिभागरूप तीव्र अनुभागवाले मिथ्यात्व का उदय है, जिसे ७० कोडाकोडी सागर या तत्सम उत्कृष्ट स्थितिवाला मिथ्यात्व का बंध होता हो ऐसे जीव को क्षयोपशमलब्धि नहीं कहलाती, उन्हें विशुध्दिलब्धि, देशनालब्धि की पात्रता नहीं होती। 'भावदीपिका' ग्रंथ में पं. दीपचंदजी कासलीवाल कहते हैं कि ऊपर के तीव्र अनुभागवाले स्पर्धकों का जिन्हें उदय है ऐसे तीव्र मिथ्यात्वी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देना भी योग्य नहीं है। उपदेश देते समय भी पात्रता - अपात्रता का विवेक रखना चाहिए।

जो तीव्र मिथ्यात्वी और तीव्र कषायी जीव है उसे धर्मोपदेश सुनने की बुध्दि नहीं होती, कोई सुनाने लगे तो उसके कषायों की वृध्दि होती है। वह उपदेशदाता का तथा जिनमें सत्य उपदेश है ऐसे सत्शास्त्रों का ही द्वेष करने लगता है, विघ्न भी ड़ालता है परंतु ऐसे जीवों को देखकर हमें उनका द्वेष करना योग्य नहीं है। उनकी सम्यक्त्व की काललब्धि अभी दूर है और होनहार कुछ और ही है समझना चाहिए। जिस वक्त उनकी सम्यक्त्व की काललब्धि आयेगी तब इन पांच लब्धिपूर्वक ही उन्हें सम्यक्त्व होगा।

उस समय उनके मिथ्यात्व, कषाय आदि मंद होगे, जिनेन्द्रकथित सत्शास्त्रों की महिमा उन्हें भासित होगी, उपदेशदाता भी मिलेंगे और उपदेशग्रहण भी होगा।

वे आज माने या कुछ काल पश्चात् माने परंतु सच्चे मोक्षमार्ग का स्वरूप समझे बिना, आत्मा का स्वरूप समझे बिना, सच्चे देव गुरु शास्त्र का स्वरूप समझे बिना उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। सम्यक्त्व की प्राप्ति हुये बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ नहीं होगा, मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी - सुख की प्राप्ति नहीं होगी, जन्म मरण के फेरों में से छुटकारा नहीं होगा।

मिथ्यात्व सर्वघाति प्रकृति है। उसमें शैल, अस्थि और दारु (बहुभाग) तीन प्रकार के स्पर्धक पाये जाते हैं। क्षयोपशमलब्धि में उनका अनुभाग अनंत गुणा घटता जाता है फिर भी उसे मिथ्यात्व प्रकृति का क्षयोपशम नहीं कहते।

असातावेदनीय आदि अघातिकर्मों की अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग भी प्रतिसमय घटता जाता है।

देखो, कैसा सहज सुंदर नियम है। किसी जीव ने पूर्व में बहुत पाप किये हो, तीव्र मिथ्यात्व का सेवन करके तीव्र अनुभागवाले कर्मों का बंध किया हो तो भी जिस समय उसे अपने आत्मा का स्वरूप तथा तत्त्वज्ञान जाननेसंबंधी जिज्ञासा और तीव्र रुचि उत्पन्न होती है तो उसके पूर्वबध्द कर्मों का अनुभाग मंद होने लगता है। जब मिथ्यात्व और चारित्रमोहनीय कर्म मंद होकर उदय में आने लगेगा तो जाहिर है कि जीव के भी मंद कषायरूप परिणाम होंगे, धर्मानुरागरूप परिणाम होंगे।

इसी बात को विशुध्दिलब्धि के रूप में बताते हैं। पुराने कर्मों के अनुभाग उदय का मंद होना कारण है - निमित्त है और मिथ्यात्व रागादिकों का मंद होना - शुभ परिणाम होना उसका नैमित्तिक कार्य है। इसलिए क्षयोपशमलब्धि को कारण जानकर पहले कहा है और विशुध्दिलब्धि को कार्य जानकर पश्चात् कहते हैं। वैसे तो ये दोनों एकसाथ विद्यमान रहती हैं - वे एक ही सिक्के के दो पहलुओं की भांति हैं।

अब नये परिणाम शुभरागरूप होते हैं उनके निमित्त से सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम, उच्च गोत्र आदि प्रशस्त प्रकृतियों का बंध होता है। क्योंकि आठों ही कर्मों का उदय रहने पर भी नया बंध मिथ्यात्व और कषाय के निमित्त से होता है। शुभ परिणामों से अघातिकर्म की प्रशस्त प्रकृति बंधती हैं और अशुभ

परिणामों से अघातिकर्म की अप्रशस्त प्रकृति बंधती हैं। दोनों ही परिणामों से ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का बंध तो होगा परंतु नया स्थितिबंध और अनुभागबंध शुभ परिणामों से कम बंधेगा और अशुभ परिणामों से अधिक बंधेगा।

इसी बात को विशुध्दिलब्धि द्वारा बताया जाता है। उसकी परिभाषा देखते हैं -

विशुध्दिलब्धि - 'क्षयोपशमलब्धि जिसे प्राप्त हो गयी है, उसके कारण जीव को सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बंध के कारणभूत धर्मानुरागरूप शुभपरिणाम होते हैं, उनकी प्राप्ति वह विशुध्दिलब्धि है।'

क्षयोपशमलब्धि के फलस्वरूप जीव के मिथ्यात्व और कषाय प्रतिसमय मंद होते जाते हैं, इसलिए सहज ही उसकी धर्मानुरागरूप वृत्ति होती है। देवदर्शन, पूजा, स्वाध्याय करना, सदाचारयुक्त नैतिक जीवन का होना, अभक्ष्यभक्षण का त्याग, व्यसनाधीन न होना, अन्याय, अनीति न करना आदि भाव उसके सहज उत्पन्न होते हैं। इन शुभ परिणामों के निमित्त से उसे सातावेदनीय आदि प्रशस्त कर्मों का बंध होने लगता है।

विशुध्दि शब्द शास्त्र में अलग अलग जगह अलग अलग अर्थ में आता है। विशुध्दिलब्धि के प्रकरण में तथा अन्य सामान्य कथन में विशुध्दि का अर्थ शुभ परिणाम ही लेना। करणलब्धि के समय जब कहेंगे कि विशुध्दि अनंत गुणा बढ़ती जाती है वहाँ तत्त्वज्ञान की निर्मलता और श्रध्दा या चारित्रसंबंधी निर्मलता के साथ हानि को प्राप्त होनेवाले कषायों के उदयस्थानों को विशुध्दि कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय श्रध्दा यानि प्रतीति और तत्त्वनिर्णय की निर्मलता समझना और अपूर्वकरणादि श्रेणी के गुणस्थानों में चारित्रसंबंधी निर्मलता अर्थात् बढ़ती हुयी वीतरागता समझना। उसके साथ कषायों के उदयस्थान हानि को प्राप्त होते जाते हैं, उसे विशुध्दि कहते हैं।

कहीं कहीं विशुध्दि यानि विशेष शुध्दि - पूर्ण वीतरागता के अर्थ में भी यह शब्द आता है। जहाँ जो योग्य अर्थ है उसे ठीक तरह से ग्रहण करना। कषायों का उदय पूर्णतः मिटनेपर पूर्ण विशुध्द कहलाता है।

जीव के कषायों को दो भेदों में विभाजित करते हैं - संक्लेश परिणाम और विशुध्द परिणाम। कषायों के कुल स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें बहुभाग संक्लेश के स्थान हैं और एकभाग विशुध्दि के स्थान हैं। उनमें क्या भेद है देखते हैं।

साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय आदि शुभ प्रकृतियों के बंध के कारणभूत कषायस्थानों को विशुध्दिस्थान कहते हैं और असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय आदि अशुभ प्रकृतियों के बंध के कारणभूत कषायों के उदयस्थानों को संक्लेशस्थान कहते हैं।

अत्यंत तीव्र कषाय के अभाव में जो मंदकषाय होती है उसे विशुध्दि कहते हैं। साता वेदनीय के चतुःस्थानगतबंध की अपेक्षा सातावेदनीय के त्रिस्थानगत अनुभागबंध करनेवाले जीव के परिणाम संक्लिष्टतर (अधिक संक्लेशवाले) हैं अर्थात् उनकी अपेक्षा तीव्र कषायवाले हैं।

वर्धमान - बढ़ते हुये कषाय को संक्लेश और हीयमान - घटते हुये कषाय को विशुध्दि कहना भी ठीक नहीं है। कषायों की वृध्दि केवल असाता के बंध का कारण नहीं है, क्योंकि कषायों की वृध्दि के काल में साता का भी बंध पाया जाता है। उसी तरह कषायों के हानि के काल में भी असाता का बंध पाया जाता है।

वहाँ प्रश्न पूछते हैं कि बढ़ती हुयी कषाय को संक्लेश और हीन होती हुयी कषाय को विशुध्दि क्यों नहीं स्वीकार करते? क्योंकि वैसा स्वीकार करनेपर संक्लेशस्थानों और विशुध्दिस्थानों की संख्या में समान होने का प्रसंग आयेगा। परंतु हमने तो देखा है कि संक्लेशस्थान असंख्यात बहुभाग हैं तो विशुध्दिस्थान एकभाग प्रमाण हैं।

यह तो सामान्य संसारावस्था की बात हुयी। परंतु सम्यक्त्वोत्पत्ति के काल में हानि को प्राप्त होनेवाले कषायस्थानों को ही विशुध्दि कहते हैं। वहाँ वैसा कहना ठीक है क्योंकि दर्शन और चारित्र मोह की क्षपणा और उपशमना में पूर्व समय में उदय को प्राप्त हुये अनुभाग स्पर्धकों की अपेक्षा अनंत गुणे हीन अनुभाग स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न कषायोदय स्थान के विशुध्दपना स्वीकार किया गया है।

इस चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि नरकगति में कृष्णादि तीन अशुभ लेश्या होनेपर भी वहाँ विशुध्दिलब्धि कही है।

देखो तो, अभी तो इस विशुध्दिलब्धिवाले जीव को देशना अर्थात् मोक्षमार्ग के स्वरूप संबंधी उपदेश सुनने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। उसकी प्राप्ति तो देशनालब्धि के प्रकरण में कहेंगे। अभी तो केवल पुण्यबंध के कारणभूत धर्मानुरागरूप शुभ परिणाम हो रहे हैं।

कितने ही जीव इतने मात्र से संतुष्ट होकर जीवन व्यतीत करते हैं। मानवता की भावना से दूसरों की मदद करना, सदाचार से रहना, देवदर्शन, पूजन, यात्रा, दया, दानादि करना इसी में वे जीवन की सफलता मानते हैं। अभी इन जीवों को तत्त्वज्ञान का पता नहीं है, सच्चे देव गुरु शास्त्र की पहचान नहीं है। कोई जीव धर्मानुरागवश कहीं प्रवचन-शास्त्र सुनने जाता भी है, मगर सच्चा उपदेश इसे प्राप्त नहीं हुआ है। पूज्य कानजी स्वामी कहा करते थे कि यह जीव बीबी, बाल, बच्चे, व्यापार, धंदा आदि में से बड़ी मुष्किल से एकाध घण्टा शास्त्र सुनने जाता है, तो कुगुरु उसे लूंट लेता है।

तुम विचार करो, अनादिकाल से हम जन्म मरण करते आये हैं। उसमें अनंत बार कभी विशुध्द परिणामों से पुण्य प्रकृति बांधी तो कभी संक्लेश परिणामों से पाप प्रकृति बांधी थी परंतु बंधन में से छूटने का मार्ग प्राप्त नहीं हुआ था।

इसमें से छूटने का मार्ग - मोक्ष का मार्ग और उसका उपदेश जिनेन्द्र भगवान ने बताया है वही यथार्थ है, सत्य है। बंधन में से छूटने का मार्ग आज हमें उपलब्ध है, उसके मूलकर्ता - मूल उपदेशक तीर्थंकर भगवान है। उनकी दिव्यध्वनि में यह उपदेश सहज रीति से बताया जाता है। उसके अनुसार गणधर आचार्य बारह अंगों की रचना करते हैं जिसे हम द्वादशांग द्रव्यश्रुत कहते हैं। आचार्यों की परम्परा से यह मार्ग आज तक चलते आया है।

इस मार्ग का उपदेश सुनने की जिज्ञासा और बुध्दि होना और यह सत्य उपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होनेरूप महाभाग्य - महान पुण्य उसीको होगा

जिसके क्षयोपशमलब्धि और विशुध्दिलब्धि पूर्वक देशनालब्धि प्राप्त होती है। विशुध्दिलब्धि बिना जीव जिनेन्द्रकथित उपदेश सुनने के लिये तैयार नहीं होगा।

जिसप्रकार पत्थर पर बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है, ऊगता नहीं है उसके लिये मृदु मिट्टी में बोना आवश्यक है, उसीप्रकार जिनवाणीश्रवण का सौभाग्य और सुनकर समझने का सौभाग्य उसीके होगा जिसके परिणाम मृदु होंगे - विशुध्द होंगे।

दूसरी एक बात है। जिसके महान पुण्य का उदय होगा उसे ही महान दुर्लभ ऐसे जिनवाणीश्रवण का सौभाग्य प्राप्त होगा, अन्यथा यह बात कानों में पड़ना भी महान दुर्लभ बात है।

लोग तो पुण्य का फल सम्पत्ति और घरबार प्राप्त होने मात्र को कहते हैं। उसे तो हर जीव ने अनंत बार पाया और छोड़ा। परंतु उस पुण्य को हम भला कैसे कह सकते हैं जो संसार में भटकाता रहे?

जीव को अपने आत्मा का स्वरूप जानने की तीव्र जिज्ञासा होती है, उसके धर्मानुरागरूप मंद कषाय होते हैं, उसकी इसी पात्रता से उसे देशनारूप निमित्त की सहज उपलब्धि हो जाती है। अब देशनालब्धि का स्वरूप समझते हैं। सर्वप्रथम उसकी परिभाषा देखते हैं।

देशनालब्धि - 'छह द्रव्य, सात तत्त्व अर्थात् नौ पदार्थ, मोक्षमार्ग, सच्चे देवगुरुशास्त्र का स्वरूप, स्व और पर का ज्ञान, हेय-ज्ञेय-उपादेय भाव इत्यादि संबंधी सच्चा उपदेश देनेवाले आचार्यादिकों का अर्थात् तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय, साधु, पंचम या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी जीवों का समागम मिलना, उनके द्वारा दिये गये उपदेश का अर्थात् देशना का मिलना और उपदेशित पदार्थों का ज्ञान में धारण होना देशनालब्धि है।'

उपदेश को देशना कहते हैं और उस उपदेश को सुनकर समझना, याद रखना, उसे पुनः पुनः विचारों में लेना देशनालब्धि है। श्रवण, ग्रहण, धारण आदि इसके अंग हैं।

मात्र उपदेश सुनने की क्रिया देशनालब्धि नहीं है। देशनालब्धिवाला जीव तो अपने स्वरूपसंबंधी उपदेश अत्यंत रुचिपूर्वक सुनता है। पद्मनंदी पंचविंशतिका में आचार्य पद्मनंदी कहते हैं -

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेत् भव्य भावि निर्वाणभाजनम्।।

अपने स्वरूपसंबंधी कथन सुनकर जीव आनंदित होता है, उसके संबंध में अधिक जानने की उसे तीव्र जिज्ञासा और उल्हास उत्पन्न होता है। गृहस्थी संबंधी कार्यों में से किसी भी प्रकार वक्त निकालकर वह बड़े उत्साह के साथ उपदेश सुनने आता है। यह हमारे अनुभव की बात है कि टी. व्ही. की अपनी पसंद की सीरियल देखने के लिये लोग बाकी सब काम शीघ्रता से निपटाकर सीरियल के वक्त बराबर टी.व्ही. के सामने आकर बैठ जाते हैं।

उसीप्रकार जिसे तीव्र तत्त्वजिज्ञासा जाग्रत हुयी है उसकी रुचि ही उसे मार्ग बना देती है। विषयकषाय की बातों से उसे तत्त्वश्रवण में अधिक रस लगने लगता है, व्यवसाय में होनेवाला आर्थिक नुकसान भी उसे देशना सुनने में बाधा नहीं ड़ालता - उसे विचलित नहीं कर सकता।

जिसकी देशनालब्धि की योग्यता होती है, भवितव्य होता है, उसे ज्ञानी का सत्समागम और उपदेश की प्राप्ति भी सहज होती है। उस जीव की तीव्र रुचि ही उसमें कारणभूत होती है।

तुम्हें याद है? सन १९७५ में जब रीना तुम छह साल की थी और मोना तुम तीन साल की थी तब तुम दोनों को घर में तुम्हारे चाचा चाची के पास छोड़कर हम दोनों और तुम्हारे दादा - दादी धर्मचक्र यात्रा में शामिल हुये थे, हम लगातार तीन महिनों तक भारतभर के तीर्थक्षेत्रों और सिध्दक्षेत्रों की वंदना करते हुये प्रवास करते रहे। १००० यात्रि और अनेक विद्वानों के साथ यह यात्रा सम्पन्न हुयी थी। उसमें हमें रोजाना अनेक विद्वानों के प्रवचनों का लाभ प्राप्त हुआ।

यात्रा में जाने की मुझे तीव्र रुचि थी, यात्रा तो सफल हो ही गयी, परंतु उसीके साथ भवोंभवों में अत्यंत दुर्लभ सच्चा तत्त्वज्ञान सुनने का अवसर प्राप्त

हुआ। उस समय ख्याल आया कि, 'अरे! मेरा ऐसा विलक्षण स्वरूप! मुझे तो इन बातों की - इस तत्त्वज्ञान के अभ्यास की खबर ही नहीं थी।' बचपन से धार्मिक रुचि और संस्कार तो थे परंतु तत्त्वज्ञान का शास्त्रीय दृष्टिकोण से अभ्यास नहीं था, उसका माहात्म्य भी कभी भासित नहीं हुआ था। उसके पश्चात् भी अनेक बार तुम्हें लेकर या छोड़कर हम शिबिरों और प्रवचनों में जाते रहे थे।

तुम दोनों इतनी छोटी थी फिर भी इतनी समझदार, सयानी और सहनशील थी कि उसकी याद आती है तो आज भी मुझे बहुत आश्चर्य होता है। हम दोनों को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में तुम दोनों का अमूल्य सहकार्य मिला है इस बात में कोई संदेह नहीं है। इस विषय में तुम्हारे उपकार का स्मरण होता है तो आज भी मेरी आंखों में कृतज्ञता के आंसू आते हैं।

जिसे तीव्र रुचि होती है उसे ज्ञानी का समागम, देशना का मिलना और वैसे संयोग सहज मिल जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि संयोग कभी बाधक नहीं होते, हमारी संयोगों में जो रुचि और गृध्दता होती है वही बाधक होती है। जिसे तत्त्वज्ञान की रुचि नहीं है वह प्रतिकूल संयोगों की आड़ लेकर बहाना बनाता है।

जिसतरह हमने देखा कि मिथ्यात्व और कषायों के अनुभाग का मंद, मंदतर उदय होता जाता है, उसीतरह ज्ञानावरणादि कर्मों का अनुभाग उदय भी मंद होता जाता है। इसलिए जीव जो उपदेश श्रवण करता है, ग्रहण करता है उससंबंधी योग्यता अयोग्यता का निर्णय करने की बुध्दि - इतना विवेक भी उसके होता है। सामनेवाला व्यक्ति ज्ञानी है अथवा शास्त्र का यह उपदेश सत्य ही है इसकी उसे अपनी स्वयं की बुध्दि से पहचान होती है। लौकिक में हम देखते हैं कि दूसरों की बुध्दि के अनुसार काम करनेवाले लोग स्वयं योग्य निर्णय नहीं ले सकते।

धर्म का स्वरूप या आत्मा का स्वरूप बतानेवाले वक्ता भी कोई तो सच्चा उपदेश देते हैं और कोई धर्म और आत्मा के नाम पर गलत उपदेश देकर मिथ्या मान्यताओं का प्रचार करते हैं। ऐसी हालत में उपदेश की सत्यता - असत्यता का निर्णय करने और उसकी परीक्षा करने योग्य विवेक हमारे पास होना चाहिए।

हम अच्छे संयोगों और धनसम्पत्ति की ओर देखकर कहते हैं कि यह सारा पुण्य का उदय है। परंतु देशना देनेवाले, सच्चा उपदेश देनेवाले ज्ञानी जीवों का समागम होना, सहवास प्राप्त होना और उनके द्वारा दिये गये उपदेश का श्रवण, ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त होना तो उच्च जाति के पुण्य का फल है।

शास्त्र के कथनों का गलत अर्थ बतानेवाले और अपनी मति कल्पना से चाहे जैसा उपदेश देनेवाले व्यक्तियों की भी कमी नहीं है। वे तो स्वयं को देशना देनेवाले समझते हैं और दिखावा तो ऐसा करते हैं कि मानो दुनिया के कल्याण के लिये उनका अवतार हुआ है। अचरज की बात तो यह है कि उन्हें भक्तों की कभी कमी महसूस नहीं होती। उनके पीछे लगकर अविवेक से प्रवृत्ति करनेवाले लोगों को देखकर ख्याल आता है कि इनकी होनहार कुछ ठीक नहीं है।

किसीको पूछेंगे, 'क्यों भाईसाहब? क्या आपने भोजन कर लिया?' तो वह कहता है, 'अहो, हम तो सबके भोजन की व्यवस्था करते हैं। देखो, मैंने १००० लोगों को भोजन के पास बनाकर दिये हैं।' उसे पूछते हैं, 'तो आपका पेट भर गया होगा?' वह कहता है, 'अहो, मुझे फुरसत कहाँ है? पास देते देते भोजन के लिये भी समय नहीं मिला।'

दूसरा उदाहरण देखते हैं। दूसरे किसी महोदय से पूछा, 'आपको धन की कोई कमी तो नहीं है ना?' उसने कहा, 'मुझे पूछ रही हो? अहो, रोज मेरे सामने करोड़पति लोग कतार में खड़े रहते हैं - मेरे से पैसे लेने के लिये तथा मुझे पैसे देने के लिये।' फिर प्रश्न, 'तो फिर आपको पैसे की कोई चिंता नहीं होगी?' वह कहता है, 'आपको मैं क्या बताऊं? मुझे घर खरीदना है, लड़की की शादि करनी है, लड़के को उच्च शिक्षण देना है। इन सब बातों के लिये पैसों की बहुत कमी है।' उसको कहते हैं, 'परंतु आप बता रहे थे ....?' वह कहता है, 'हाँ! मैं बैंक में काम करता हूँ। इतने सारे लाखों रुपये लेने, देने, गिनने का काम करने के लिये मुझे कुछ हजार रुपये तनखा मिलती है।'

इसीतरह किसी से पूछा, 'अहो! आपको देशना तो मिली ही होगी ना?' वह कहता है, 'क्या बात कर रही हो? हम तो देशना देनेवाले हैं। हमने तो इन सारे ग्रंथों की टाईप सेटिंग की है, प्रुफ रीडिंग की है, व्याख्यान सुनाये हैं।'

हमने कहा, 'बहुत अच्छी बात है। तो फिर आप देशना देनेवाले ज्ञानी धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि हो।' वह कहता है, 'नहीं, हमारा इतना सौभाग्य कहाँ?'

देशना तो ज्ञानी जीवों के उपदेश को ही कहते हैं। वह उपदेश भी मोक्षमार्ग संबंधी होना आवश्यक है, द्रव्यानुयोगसंबंधी होना चाहिए तथा स्व पर भेद विज्ञान करने में कार्यकारी होना चाहिए। अन्य अनुयोगसंबंधी कथन हो तो वह भी वीतरागता की पुष्टि करनेवाला और द्रव्यानुयोग के सिध्दांतों को सिध्द करनेवाला होना चाहिए।

कोई ज्ञानी गृहस्थ जीव अपने बालबच्चों को व्यापार धंदा, घर गृहस्थी संबंधी कुछ सलाह, उपदेशादि देता हो, समाज में किसतरह रहना चाहिए उसके बारे में सिखाता हो तो वह देशना नहीं कहलाती।

देशना के मूल स्रोत अरहंत भगवान है, उनके उपदेशानुसार रचित शास्त्र और उनका उपदेश बतानेवाले गुरु भी देशना के स्रोत हैं - देशना देनेवाले हैं। वे तो मात्र मोक्षमार्ग का ही उपदेश देते हैं। परंतु चौथे, पांचवें गुणस्थानवाले जीव अभी गृहस्थावस्था में हैं। शास्त्रस्वाध्याय करते समय वे भी मात्र मोक्षमार्ग का ही उपदेश देंगे, आत्मस्वरूप का कथन करेंगे, द्रव्यानुयोग के अनेक सिध्दांत समझायेंगे। जैसे, निमित्त उपादान, निश्चय व्यवहार, पांच समवाय, क्रमबध्दपर्याय, देव गुरु शास्त्र का स्वरूप, हेय ज्ञेय उपादेय तत्त्वों का स्वरूप आदि का विस्तार से वर्णन करेंगे, समझायेंगे। परंतु गृहस्थोचित अन्य कार्यों में अपने कुटुंबीजनों, साधर्मियों तथा समाज के अन्य लोगों को जरूरत पड़नेपर लौकिक उपदेश भी देंगे। उनके शास्त्रविषयक उपदेश को तो देशना कहेंगे परंतु लौकिक उपदेश को देशना कहना योग्य नहीं है।

यहाँ तो हम देशनासंबंधी चर्चा कर रहे हैं। हमारा विषय तो देशनालब्धि है। उसके बारे में अधिक चर्चा हम आगामी पत्र द्वारा करेंगे।

अब विस्तार भय से यहीं विराम लेती हूँ।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

देशनालब्धि

पत्रांक ७ १५ सितम्बर २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

गत पत्र से हमने देशनालब्धिसंबंधी चर्चा प्रारंभ की थी। प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने से पहले देशनालब्धि होती ही है - वह आवश्यक है। दूसरा नियम यह है कि देशना ज्ञानी जीवों से ही प्राप्त होनी चाहिए या इसतरह कहो कि ज्ञानी के उपदेश को ही देशना कहते हैं।

तुमने पूछा है कि 'तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन के दो भेद बताये हैं - निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन। दूसरे के उपदेश से जो प्राप्त होता है उसे अधिगमज कहा है और किसी के उपदेश बिना ही जो प्राप्त हो वह निसर्गज कहलाता है। इसलिए देशनालब्धि की आवश्यकता सब को नहीं होती होगी?'

सुनो, इस भव में किसी को ज्ञानी जीव द्वारा उपदेश - देशना की प्राप्ति नहीं हुयी हो और उसे सम्यग्दर्शन हो जाये, तो समझना कि उसे पूर्वभव में नियम से देशना मिली है। इस भव में देशना नहीं मिली है इसलिए उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जिसको इसी भव में देशना मिली हो तो उसके पश्चात् होनेवाले सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। परंतु देशना बिना ही सम्यग्दर्शन हो जाये ऐसा सर्वथा निसर्गज सम्यग्दर्शन होता ही नहीं।

नारकी और देवों में अवधिज्ञान पाया जाता है। अवधिज्ञान द्वारा वे पूर्व की देशना को जानते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों में जातिस्मरण ज्ञान से भी पूर्व भव की देशना याद आती है अथवा पूर्व भव में सुना हुआ, अभ्यास किया हुआ उपदेश धारणा ज्ञान में होगा तो उसके कारण अगले भव में भी सम्यक्त्व हो सकता है।

अगले भव में उसके शब्द याद न भी हो तो भी तत्त्वों का भाव ख्याल में आता है और अंतर्मुख विचारों में तत्त्वों का भावभासन होने लगता है। उसमें

बाह्यनिमित्त जिनबिम्बदर्शन, स्वर्गों में ऋध्दि, वैभव आदि देखना या नरकों में तीव्र वेदना का होना, मनुष्यों में धर्मश्रवण, धर्मस्मरण, ग्रंथों का पढ़ना या उपदेश सुनना हो सकते हैं। इसको बाह्यदेशना कहा या देशना कहा और देशनालब्धि में जीव उसका श्रवण, ग्रहण, धारण करता है , उसपर विचार करता है, निर्धारण करता है। केवल सुनना देशनालब्धि नहीं कहलाती।

यदि तुम रोहित से कहोगी कि जा बेटा, पानी लेकर आ। वह खड़े खड़े तुम्हारी ओर देखता ही रहेगा तो तुम उसे दुबारा कहोगी। फिर भी नहीं सुना तो डांटोगी और पूछोगी, क्या तुमने नहीं सुना? सुनकर यदि वह पानी लेकर आता है तो ही हम कहेंगे कि उसने सुना। तुम्हारे कहे अनुसार बच्चे आचरण करेंगे तो तुम कहती हो कि मेरा राजा बेटा कितना अच्छा है, मेरी सब सुनता है।

क्या हमने कभी सोचा है कि हम भगवान की या आचार्यों की कितनी बातें सुनते हैं? तुम्हारे बच्चों के दृष्टांत से तुम समझ गयी होगी कि केवल कानों से सुंनायी देने को सुनना नहीं कहते। उसे समझना भी आवश्यक है, याद रखना भी आवश्यक है, उसपर विचार करना - उसका निर्णय करना और उसरूप परिणमन करना आदि सारे अंग आवश्यक हैं। उसके बिना हम कैसे कह सकते हैं कि इसने भगवान का उपदेश सुना है?

लोग भगवान की सुनना भी कहाँ चाहते हैं? वे तो भगवान को सुनाना चाहते हैं, सुनाते भी रहते हैं। रोज मंदिरजी में जोर शोर से पूजा पाठ बोलकर भक्ति करते हैं, गान करते हैं, भगवान की जय बोलते हैं परंतु भगवान ने क्या कहा है उसे शास्त्रों द्वारा या गुरुमुख से - विद्वानों से सुनना नहीं चाहते। यह कैसी अवस्था हुयी पता है? द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव - जिन्हें विकलेन्द्रिय कहते हैं उनके वचन यानि भाषा तो होती है परंतु पंचेन्द्रियों की तरह कर्णेन्द्रिय नहीं होने से वे सुन नहीं सकते। हम भी यदि भगवान को या मंदिर में उपस्थित अन्य लोगों को भक्ति, पूजा पाठ सुनाते हैं और भगवान की या प्रवचनकार की नहीं सुनते हैं तो हमारी अवस्था भी विकलेन्द्रियों जैसी ही है।

देशना में तो निमित्तरूप से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र आदि होते हैं परंतु देशना तभी कहलायेगी ज़ब कोई जीव देशना का श्रवण करेगा, उसका ग्रहण करेगा अर्थात् समझेगा, उसे याद रखेगा अर्थात् धारणा में लेगा। यदि जो सुना वह समझ में ही नहीं आया तो कुछ कार्यकारी नहीं है। उसीप्रकार समझ में तो आया परंतु तात्काल विस्मरण भी हुआ तो क्या काम का? जो सुना, समझा उसे स्मरण में रखकर उसपर विचार करना, चिंतन मनन करना और स्वयं युक्ति और न्याय से तर्क की कसौटीपर कसकर उन तत्त्वों की सच्चाई का निर्णय करना यही तो महत्त्व की बात है। निर्णय होनेपर उसरूप परिणमन भी होता है।

जैसे सच्चे देव गुरु शास्त्र का स्वरूप सुनता है, सर्वज्ञता का स्वरूप सुनता है तो विचार करता है और अपनी पूर्व मान्यताओं के साथ मिलान करके देखता है कि मैं तो आज तक ऐसा मानता आया था। अब मुझे सच्चे स्वरूप का पता चल गया है। यदि निर्णय हो गया हो तब वह कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को छोड़ देगा, उनकी आदर, भक्ति, विनय छूट जायेगी।

सच देखा जाये तो देशना तो देशनालब्धि में निमित्त है। परंतु उसके बिना प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता इसलिए स्थूलरूप से - उपचार से देशना को या देशना जिनके द्वारा प्राप्त होती है उन सच्चे देव गुरु शास्त्र को सम्यग्दर्शन का निमित्त कह दिया जाता है।

निमित्त नैमित्तिक संबंध एक समय में होनेवाले दो कार्यों में पाया जाता है। एक तो अनुकूल भासित होनेवाले निमित्तरूप परद्रव्य का कार्य और नैमित्तिक कार्य। इन दोनों का काल एक ही होता है। इसे शास्त्र में कालप्रत्यासत्ति कहा है। दो भिन्न कार्यों का काल एक ही होना और उनमें निमित्त नैमित्तिक संबंध पाया जाना इसे कालप्रत्यासत्ति कहते हैं। देशनालब्धिरूप कार्य में देशना निमित्तरूप होती है। सम्यग्दर्शनरूपी कार्य तो उसके पश्चात् होता है।

यहाँ हम बार बार देशना को देशनालब्धि का निमित्त कह रहे हैं। देशनालब्धि तो ज्ञान की पर्याय है। अपनी तीव्र रुचि तथा अपना स्वरूप जानने की तीव्र जिज्ञासा हो और देशनालब्धि की पर्याय अपनी योग्यता से प्रकट होने

का समय आये तो ज्ञानी की देशना भी सहजरूप से निमित्त के रूप में मिल जाती है। परंतु निमित्त के कारण ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, देव शास्त्र गुरु की ओर आदर, राग होता है परंतु उस राग के कारण भी ज्ञान नहीं होता। प्रवचनसार गाथा ३५ की टीका के ऊपर पूज्य श्री कानजी स्वामी ने प्रवचन में कहा है - 'सामने तीर्थंकर आचार्यादि हैं इसलिए ज्ञान हुआ, उपदेश सुना - दिव्यध्वनि सुनी इसलिए ज्ञान हुआ ऐसा नहीं है। वाणी के कारण मुझे ज्ञान हुआ, जड़ के कारण ज्ञान हुआ माननेवाला अपने चैतन्यस्वभाव का इन्कार करता है, घात करता है।'

निमित्त से कार्य नहीं होता, फिर भी विवक्षित कार्य में उचित निमित्त ही होगा, चाहे जैसे निमित्त की उपस्थिति में कार्य नहीं होगा। देशनालब्धि में सर्वज्ञ भगवान की - जिनेन्द्र भगवान की वाणी ही निमित्त होगी। वह वाणी तीर्थंकर या अन्य केवलि की हो या उनकी दिव्यध्वनि के अनुसार अन्य आचार्यों ने या अन्य सम्यग्ज्ञानी जीवों ने बतायी हो, वही देशना कहलायेगी। अन्यमति की कल्पनायें और उपदेश तो मोक्षमार्ग में तीन काल में काम आनेवाला नहीं है।

यहाँ निमित्त का ज्ञान कराते हैं परंतु उनका आदर छुड़ाते हैं, निमित्ताधीन दृष्टि छुड़ाते हैं।

जिन्हें निमित्त नैमित्तिक संबंध की सहजता का पता नहीं है ऐसे कितने ही जीवों को प्रश्न उठता है कि 'हमें ज्ञानी की देशना प्राप्त करनी है तो सामनेवाला व्यक्ति ज्ञानी - सम्यग्दृष्टि है यह हम कैसे पहचानेंगे?'

मिथ्यात्वी जीव को ज्ञानी की सच्ची पहचान हो नहीं सकती। उसको ढूंढ़ने की आकुलता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव तो अन्य जीवों की बाह्य प्रवृत्ति और क्रियायें देखकर उनके द्वारा उनकी पहचान करना चाहता है। सामनेवाले जीवों के अभिप्राय का - सम्यग्दर्शन का इसे पता नहीं चलता। हमें तो उपदेश की सत्यता को पहचानना है। क्योंकि ज्ञानी जीव भी जो उपदेश देते हैं वह सर्वज्ञ के वचन अनुसार देते हैं, अपने घर की - अपनी कल्पना की बातें नहीं करते।

शास्त्र पढ़नेवाला भी प्रारंभ में कहता है कि 'अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवः, तदुत्तर ग्रंथकर्तारः श्री गणधरदेवाः ....' अर्थात् 'इस ग्रंथ के मूलकर्ता श्री सर्वज्ञ भगवान है, उनकी दिव्यध्वनि सुनकर पश्चात् ग्रंथों की रचना करनेवाले श्री गणधर आचार्य हैं। उनके उपदेश के अनुसार आचार्यों की परम्परा से जो ग्रंथ रचे गये उनमें से इस विशिष्ट ग्रंथ का हम स्वाध्याय कर रहे हैं। श्रोताओ, सावधान होकर सुनना।' आगम का वचन सर्वज्ञ भगवान का होता है, किसी वक्ता का नहीं होता। वह तो वस्तुस्वरूप संबंधी सच्ची जानकारी है।

मान लो, तुम्हें किसी ने एक लाख रुपये का डिमाण्ड ड्राफ्ट ड़ाक से भेजा। पोस्टमन ने तुम्हें दे दिया। तुमने पोस्टमन को देखा तो उसने पुराने कपड़े और जूते पहने थे, उसकी बैग भी फटी थी। उसको देखकर तुम ऐसा तो नहीं कहती कि यह आदमी गरीब दिखता है तो यह एक लाख रुपये का डिमाण्ड ड्राफ्ट कैसे दे सकता है? क्योंकि तुम्हें मालूम है कि यह तो ड़ाक पहुंचानेवाला है, लाख रुपये तो उसके नहीं हैं। लाख रुपये भेजनेवाला कोई और ही है।

तुम कहोगी, 'हम ज्ञानी को नहीं पहचान सकेंगे परंतु अभी अभी आपने कहा था कि हमें तो उसके उपदेश की सत्यता को पहचानना है। किसी का उपदेश सच्चा है या झूठा उसको हम कैसे पहचानेंगे?'

जिसके उपदेश में राग का पोषण होगा, 'निमित्त से कार्य होता है इसलिए निमित्तों को पहले ढूंढो' या 'शुभभाव करने से तुम्हारा कल्याण होगा, पुण्य करते करते तुम्हें मोक्ष प्राप्त होगा' या 'बड़े ग्रंथों का शास्त्रस्वाध्याय मत करना वह तुम्हारा काम नहीं है' आदि बातें जिसके कथन में आती हो, जो स्वयं उच्च पदवी धारण करके स्वच्छंद आचरण करता हो, कुदेवादिकों के पूजा सत्कार का उपदेश देता हो, स्वयं शास्त्रविरुध्द आचरण करता हो, लोगों को उकसाकर द्वेषबुध्दि निर्माण करके समाज में कलह पैदा करता हो उसका सभी उपदेश झूठा है।

झूठा उपदेश देनेवाले भी शास्त्र में से कुछ शब्द कहकर भी मिथ्या मान्यताओं का ही प्रचार करते हैं। कुछ लोग कहते हैं, 'हमें क्या लेना देना? उनके उपदेश में से हम केवल अच्छी बातें ग्रहण करेंगे।'

परंतु यह बात सर्वथा अयोग्य है। लौकिक बातों में यह जीव कितना चतुर है, परंतु इसके बारे में वह अविवेक करता है यह बड़ा आश्चर्य है। दूध के बड़े बर्तन में जहर की एक बूंद भी गिर जाये तो हम सारा का सारा दूध फेंक देते हैं, जिस भाग में जहर पड़ा हो उसमें से थोड़ासा दूध फेंककर बाकी का दूध नहीं रखते। वह विषमिश्रित दूध प्राशन करने से इस भव का अंत होगा इस भय से जीव दक्ष रहता है, योग्य खबरदारी लेता है।

परंतु जिस उपदेश से अनेक भवों का नुकसान होता है और जीव जन्म मरण के फेरों में अटककर अनंत काल तक निगोद में जाता है उस उपदेश को वह भला जानकर सुनता है, उसके अनुसार गलत मार्गपर चलता है। उसकी ऐसी ही होनहार होगी कि उसकी ऐसी विपरीत बुध्दि हो रही है।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की पहचान उसके बाह्य आचरण से नहीं हो सकती, अणुव्रत और महाव्रत के धारी ज्ञानी जीवों के व्रत तो हम जान सकते हैं परंतु इन सबकी वाणी मुझे स्वयं को कल्याणकारी है या नहीं इस बात का विश्वास देशनालब्धि प्राप्त करनेवाले जीव को अवश्य होता है। यह वाणी, यह उपदेश यदि जिनेन्द्रकथित वस्तुव्यवस्था के अनुसार होगा, भावलिंगी संतों के शास्त्रानुसार कथन किया होगा तो वह निश्चित ही जीव को हितकारी होता है।

परंतु कोई वक्ता जिनागम के विरुध्द उपदेश देता हो तो वह स्वयं का तथा उसके अनुयायीयों का अकल्याण ही करता है। शास्त्र में उसे उपलनाव कहा है। उपल अर्थात् पत्थर। पत्थर की नाव पानी में स्वयं तो डूबती ही है, उसमें बैठनेवाले जीवों को भी लेकर डूबती है। उसीप्रकार खोटा उपदेश देनेवाले और उस उपदेश को योग्य समझकर ग्रहण करनेवाले सभी जीव भवसागर में डूबकर कालांतर में निगोद अवस्था प्राप्त करते हैं।

कुछ कषायी जीवों ने मूल शास्त्र में फेरफार करके रागादि का पोषण करनेवाले, मिथ्या मान्यताओं का पोषण करनेवाले कितने ही वचन शास्त्र में घुसेड़ दिये हैं परंतु ज्ञानी जीव इन वचनों का निषेध करते हैं, विवेकी बुध्दिमान जीवों के वह ख्याल में आता है। हमारी भी कोई दिशाभूल न करे इसकी जिम्मेदारी हमारी है, हमें उस संबंध में दक्षता रखनी चाहिए।

आजकल लौकिक दैनंदिन व्यवहार में छल कपट करनेवाले, ठगानेवाले बहुत लोग हैं। सोने हीरे के गहने, कपड़े, खाद्यपदार्थ आदि में कुछ मिलावट तो नहीं है ना, इसके बारे में हम कितना जागरुक रहते हैं। उसीप्रकार की जागरुकता देशना के बारे में रखनी होगी। क्योंकि यहाँ तो हमारे अपने कल्याण की बात है, भवों का अभाव करके मोक्षप्राप्ति करने जैसी महान बात है।

तुम कहोगी, 'सच्चे वक्ता और सच्चे उपदेश का स्वरूप तो ख्याल में आ गया। परंतु गुरु को सर्वस्व समर्पण करना होगा ना? क्योंकि हमने तो कहीं ऐसा सुना है।'

समर्पण किसका करोगी? तन, मन, धन जो परपदार्थ हैं उनका समर्पण करना तो सर्व परसमर्पण है, सर्व स्वसमर्पण कहाँ रहा? और परपदार्थों में किसी का कुछ चलता नहीं इसलिए उनका समर्पण अपने आधीन नहीं है। हे जीव, तुम तो चेतन हो, ज्ञानस्वरूप हो, ज्ञानोपयोग पूरी तरह शास्त्राभ्यास में लगाना, तत्त्वनिर्णय में सारी बुध्दि लगाना ही सर्वस्व समर्पण होगा।

सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि का वर्णन करते हुये पं. टोडरमलजी कहते हैं - ''सच्चा उपदेश सुनकर यह जीव सावधान होकर विचार करने लगता है कि 'अहो, मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में (मनुष्यादि पर्यायों को यहाँ पर्याय कहा है) तन्मय हुआ। परंतु इस पर्याय की थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।' ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करने का उद्यम किया।''

निर्धारण करने के तीन अंग हैं - (१) उद्देश अर्थात् उनके नाम सीखना। (२) लक्षणनिर्देश अर्थात् उनके लक्षणों को जानना और पश्चात् (३) विचार सहित परीक्षा करना अर्थात् ये तत्त्व ऐसे ही हैं या नहीं इस बातपर विचार करना। जब तक जिनेन्द्रदेव ने जैसे तत्त्व कहे हैं उसीप्रकार अपना निर्णय नहीं हो जाता तब तक इसीप्रकार अपने विवेक से विचार करे। यदि सन्देह हो तो

अपने गुरु से या अन्य विद्वानों से पूछे या अन्य साधर्मियों से पूछे। विवेकपूर्वक एकांत में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया है वैसे ही है या अन्यथा है।

यहाँ अपनी मान्यताओं का पोषण नहीं करना है परंतु जिनदेव ने बताये हुये तत्त्वोंपर अनुमानादि द्वारा विचार कर वैसा ही निर्णय हो जाये उसप्रकार विचार करना है। गणित के प्रश्न सुलझाने पर हम किताब में दिये हुये उत्तरों से मिलान करते हैं और यदि उत्तर मिलता न हो तो हमारी कहाँ गलती हुयी उसे ढूंढ़कर सुधारते हैं। यदि भूल ख्याल में न आये तो शिक्षकों या अपने सहाध्यायीयों को पूछते हैं। परंतु अपनी कल्पना के अनुसार किताबों में सुधार नहीं करते। उसीप्रकार यहाँ भी समझना।

देशनालब्धि ज्ञान की पर्याय है और उपयोगरूप ज्ञान में ये सारी बातें चलती है। देशनालब्धि द्वारा जीव तत्त्वों का श्रवण करता है, उसका ग्रहण करता है अर्थात् समझता है और धारण करता है अर्थात् अच्छी तरह याद रखता है - कंठस्थ करता है। यदि उपदेश को धारण नहीं करेगा तो बाद में उसपर विचार करके उसकी योग्यता-अयोग्यता का निर्णय कैसे करेगा?

जिसतरह गाय घास खाती है और बाद में आराम से बैठकर जुगाली करती है उसीप्रकार धारणा में लिये हुये सिध्दांतों का स्मरण कर, उन्हें विचार में लेकर उनपर चिंतन, मनन करना आवश्यक है।

देशना अर्थात् उपदेश सुनते समय जीव को विवेकपूर्वक सुनना चाहिए, क्यों कि जिनागम का उपदेश चार अनुयोगों में विभाजित है। चारों ही अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है, परंतु प्रत्येक अनुयोग की कथनपध्दति और विषय में अंतर है। एक ही प्रवचन में विवक्षित प्रयोजनवश अन्य अन्य अनुयोग का कथन किया जा सकता है। उस समय उस कथन का योग्य अर्थ और उसका प्रयोजन हमें समझना चाहिए। शास्त्र का प्रयोजन वीतरागता का उपदेश देना है, रागादि मिटाने का ही उसमें प्रयोजन होता है, कहीं पर भी रागादि बढ़ाने का प्रयोजन नहीं होता।

देशना में द्रव्यानुयोग के सिध्दांतों का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रध्दान होने की दृष्टि से इसमें विस्तारपूर्वक युक्ति, हेतु, दृष्टांत

देकर निरूपण किया जाता है, प्रमाण और नयों से वस्तु का विवेचन किया जाता है, वस्तुव्यवस्था का ज्ञान कराया जाता है, जिसप्रकार स्व-पर भेदविज्ञान हो सके उसप्रकार जीव - अजीव का निर्णय कराया जाता है, जिसकारण वीतरागभाव हो उस रीति से आस्रवादिकों का स्वरूप बताया जाता है, उसमें ज्ञान वैराग्य के कारणभूत आत्मानुभवादिक की महिमा बतायी जाती है।

पं. टोडरमलजी कहते हैं -

''जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में ही मग्न हैं उन्हें आत्मानुभवनादि में लगाने को व्रत-शील-संयमादिक का हीनपना प्रकट करते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर पाप में लगना। शुध्दोपयोग प्रकट करने के लिये शुभोपयोग का निषेध करते हैं। अध्यात्मशास्त्र में पुण्य और पाप दोनों बंध के कारण होने से समान कहलाते हैं। परंतु पुण्य मंदकषायरूप है और पाप तीव्रकषायरूप है, इसलिए पुण्य छोड़कर पाप में लगना युक्त नहीं है।'' उपदेश का मर्म हमें समझना चाहिए। उपदेश का उल्टा अर्थ लगाकर यथार्थ उपदेश का निषेध करना योग्य नहीं है।

कुछ लोगों का कहना है कि द्रव्यानुयोग में व्रत संयमादि व्यवहार धर्म को हीन कहा है, सम्यग्दृष्टि के विषयभोग को निर्जरा का कारण कहा है - ऐसे कथन् सुनकर जीव स्वच्छंदी होंगे, पुण्य छोड़कर पाप में मग्न होंगे। इसलिए ऐसे शास्त्र वाचना - सुनना योग्य नहीं है।

तुम ही विचार करो, तीव्र मिथ्यात्वी जीव कल्याणकारी अध्यात्मग्रंथों का उपदेश सुनकर भी स्वच्छन्दी ही होंगे परंतु इसकारण विवेकी जीव अध्यात्मशास्त्रों का अभ्यास करना तो नहीं छोड़ेंगे। जो यथार्थ रीति से सुनेगा वह स्वच्छन्दी नहीं होगा। परंतु संदर्भरहित कोई बात, कोई वाक्य पढ़कर या सुनकर कोई जीव स्वयं के मिथ्या अभिप्राय से स्वच्छन्दी हो जाये तो उसमें ग्रंथों का तो कोई दोष है नहीं, उस जीव का ही दोष है।

''यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने - सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ है; उसका निषेध करने से तो

मोक्षमार्ग का निषेध होता है। स्वच्छन्दी होनेवाला जीव तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था और अब भी अध्यात्मशास्त्र पढ़कर भी मिथ्यात्वी ही रहा। परंतु यदि अध्यात्मशास्त्र का उपदेश ही न रहा तो बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें अनेक जीवों का बहुत बुरा होता है। इसलिए अध्यात्मशास्त्रों के उपदेश का निषेध नहीं करना।''

यह सब विवेचन पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के 'उपदेश का स्वरूप' नामक आठवें अधिकार में किया है। वह सम्पूर्ण प्रकरण अर्थात् आठवां अधिकार आदि से अंत तक ध्यानपूर्वक पढ़ना। उसमें अपनी अनेक शंकाओं का समाधान हो जाता है। वे लिखते हैं -

''कितने ही जीव कहते हैं कि द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश है वह उत्कृष्ट है सो उच्चदशा को प्राप्त हो उनको कार्यकारी है; निचली दशावालों को व्रतसंयमादिक का ही उपदेश देना योग्य है।

उनसे कहते हैं - जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व स्व - पर का श्रध्दान होनेपर होता है और वह श्रध्दान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करनेपर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रध्दान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। - इसप्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है; गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने उसे पहले किसी व्रतादिक का उपदेश देते हैं; इसलिए ऊंची दशावालों को अध्यात्म - अभ्यास योग्य है ऐसा जानकर निचली दशावालों को वहाँ से पराङ्गमुख होना योग्य नहीं है।''

''तथा यदि कहोगे कि ऊंचे उपदेश का स्वरूप निचली दशावालों को (अज्ञानी को) भासित नहीं होता।

उसका उत्तर यह है - और तो अनेक प्रकार की चतुराई जानें और यहाँ मूर्खपना प्रकट करें, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप भली भांति भासित होता है, अपनी बुध्दि अनुसार थोड़ा - बहुत भासित हो; परंतु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करें वह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना है।

तथा यदि कहोगे कि यह काल निकृष्ट है इसलिए उत्कृष्ट अध्यात्म उपदेश की मुख्यता नहीं करना।

तो उनसे कहते हैं - यह काल साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा निकृष्ट है, आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना इस काल में मना नहीं है, इसलिए आत्मानुभवनादिक के अर्थ द्रव्यानुयोग का अवश्य अभ्यास करना।

इसी पंचम काल के कुंदकुंदाचार्य ने मोक्षपाहुड में कहा है कि इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश मुख्य चाहिए।''

द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का निषेध करना, जिनवाणी का अपमान करना, बाहर फेंक देना, नष्ट करना, वैसा करनेवालों की अनुमोदना करना, उनका आदर करना यह तो नरक - निगोद के टिकटपर अपने हाथ से स्वाक्षरी करना है। नहीं समझी? हम बाहरगांव जाने से पहले रेल्वे टिकट का आरक्षण करते हैं उसके लिये स्वाक्षरी करके फॉर्म (आवेदनपत्र) भरते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हम स्वयं स्वेच्छा से वहाँ जाने की तैयारी करते हैं।

यहाँ भी ऐसा ही समझना। ऐसे परिणामों के फलस्वरूप ज्ञानावरणादि पाप प्रकृतियों का ऐसा तीव्र बंध होगा कि भविष्य में उसके फलस्वरूप अनंत काल निगोद में जन्ममरण करना पड़ेगा।

देशनालब्धि के वर्णन में हमने देखा कि श्रवण, ग्रहण, धारण और निर्धारण इसके अंग हैं। दिव्यध्वनि में चारों अनुयोगों का कथन आता है तो चारों ही देशनारूप हैं। उनमें द्रव्यानुयोग कथित तत्त्वों की हेय ज्ञेय उपादेय रूप से परीक्षा करना। उसमें जीवादिक द्रव्यों और तत्त्वों को पहचानना, स्व-पर को पहचानना। वहाँ त्यागनेयोग्य मिथ्यात्व-रागादिक और ग्रहण करनेयोग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहचानना। निमित्त नैमित्तिक जैसे हैं वैसे पहचानना।

करणानुयोग, चरणानुयोग, प्रथमानुयोग के कथन को जानना। जहाँ परीक्षा हो सके वहाँ करना, न हो सके वहाँ आज्ञानुसार जानकारी करना।

पं.टोडरमलजी लिखते हैं -

''इसप्रकार इस जानने के अर्थ कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी अभ्यास करता है कभी प्रश्नोत्तर करता है इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है, इसलिए अंतरंग प्रीति से उसका साधन करता है। इसप्रकार साधन करते हुये जब तक १) सच्चा तत्त्वश्रध्दान न हो, २) 'यह इसीप्रकार है' - ऐसी प्रतीतिसहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो, ३) जैसे पर्याय में अहंबुध्दि है वैसे केवल आत्मा में अहंबुध्दि न आये ४) हित अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने - तब तक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। यह जीव थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।''

वे आगे लिखते हैं, ''देखो तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचार - रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।''

जीव तो केवल तत्त्वविचार और तत्त्वनिर्णय करने लगता है उसीसे प्रायोग्यलब्धि प्राप्त होती है और गहराई से तत्त्वचिंतन में डूब जाता है तो शुध्दात्मसन्मुख अवस्था में करणलब्धि और सम्यक्त्व की प्राप्ति भी सहज ही होती है। अन्य कुछ करने धरने की बात नहीं रहती।

प्रायोग्यलब्धिसंबंधी चर्चा हम आगामी पत्र द्वारा करेंगे।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

प्रायोग्यलब्धि

पत्रांक ८ ३० सितम्बर २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

देशनालब्धि के प्रकरण में हमने देशना तथा देशनालब्धि का स्वरूप विस्तार से देखा, उसके श्रवण, ग्रहण, धारण, निर्धारण आदि अंगों की चर्चा भी की। द्रव्यानुयोग के जिन तत्त्वों और सिध्दांतों को हमें परीक्षापूर्वक जानना है और निर्णय करना है उन अतिमहत्त्व के विषयों की चर्चा हम 'जैन तत्त्व परिचय' तथा 'जिनागम का कारण कार्य रहस्य' पुस्तकों में पत्ररूप स्वाध्याय द्वारा कर चुके हैं।

शास्त्रों का श्रवण और वाचन करने के पश्चात् 'अब हमें क्या करना चाहिए?' ऐसा प्रश्न लोगों के मन में उठता है। इसका कारण यह है कि जीव अनादिकाल से कुछ करना चाहता है। परंतु मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता इसका निर्णय न होने के कारण विशिष्ट क्रिया - भक्ति, पूजा, ध्यान, स्वाध्यायादि करके भी मेरा सम्यग्दर्शनरूपी कार्य क्यों नहीं होता सोच कर वह निराश होता है।

परंतु तत्त्वविचार द्वारा तत्त्वनिर्णय करना यही पुरुषार्थ है और जब जीव पुरुषार्थ करता है तब अन्य समवाय भी सहज उपस्थित रहते हैं। कर्म के उपशमादिरूप निमित्त भी सहज उपस्थित होता है।

तत्त्वों का उपदेश प्राप्त होने में बाह्य गुरु अर्थात् ज्ञानी निमित्तरूप से होते हैं परंतु स्वतत्त्व की प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में आत्मा ही आत्मा का गुरु है। आत्मा स्वयं ही अपना स्वरूप जानने के लिये उत्सुक होता है, उसकी जिज्ञासा और तीव्र रुचि ही उसकी उपादान शक्ति है जिसके कारण उसे बाह्य उपदेशक और उपदेश सहज प्राप्त होता है। आत्मा स्वयं ही उसपर बारम्बार विचार करने में प्रवृत्त होता है, उसकी स्वयं की योग्यता से ही अन्य बातों संबंधी

रस कम हो जाता है, स्वरूप अनुभव की उसे तीव्र लगनी लगती है और उसका उपयोग परपदार्थ और पर्यायों से हटकर निज ध्रुव त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव पर केंद्रित होता है। किसी के सिखाने से ये बातें नहीं होती।

कोई गुरु मेरा भला करेगा ऐसी मान्यता निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्त अर्थात् गुरु तो होते हैं - देशना होती है परंतु देशनालब्धि तो उपादान से प्राप्त होती है। देशना तो सच्चे देव गुरु और शास्त्र द्वारा ही प्राप्त होती है, कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र कभी भी देशना में निमित्त नहीं हो सकते। इसलिए सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का निर्णय करना हमारा आद्य कर्तव्य है। कुदेवादिकों के द्वारा विपरीत उपदेश मिलता है, पूर्व की विपरीत मान्यताओं का पोषण होता है, विशिष्ट क्रिया करने से मोक्ष प्राप्त होगा सुनकर जीवों की दिशाभूल होती है।

सम्यग्दर्शनरूपी कार्य का कारण बाह्य देव शास्त्र गुरु, कोई विशिष्ट आचरण, शारीरिक क्रियाओं को मानकर इस जीव ने 'कारणविपरीतता' कायम रखी। परंतु सच्चा कारण तो उपादानरूप से अपने द्रव्य में ही विद्यमान है। स्वभाव पर्याय अर्थात् शुध्द पर्याय का कारण तो त्रिकाल शुध्द स्वभाव - पारिणामिक भाव है। उसे कारणरूप से स्वीकार करके उससे अभेद होकर जानते रहने से सम्यग्दर्शनरूपी कार्य प्रकट होता है। उसके पूर्व प्रकट होनेवाली पांच लब्धिसंबंधी हम चर्चा कर रहे हैं। तत्त्वविचार और तत्त्वचिंतन की अवस्था में कर्मों में कैसी अवस्थायें बनती हैं उसकी चर्चा अब प्रायोग्यलब्धि के प्रकरण में करेंगे। प्रथम उसका स्वरूप बताकर पश्चात् उसे समझेंगे।

प्रायोग्यलब्धि - क्षयोपशमलब्धि, विशुध्दिलब्धि और देशनालब्धिपूर्वक जीव की विशुध्दि प्रतिसमय बढती जाती है, उसके कारण आयुबिना अन्य सात कर्मों की स्थिति घटकर अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण रह जाती है। स्थिति का यह घटना स्थितिकांडकघात द्वारा होता है। अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग घटकर घातिकर्मों का लता और दारुभागरूप तथा अघातिकर्मों का निंब और कांजीररूप शेष रहता है। अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग का यह घटना अनुभागकांडकघात द्वारा होता है। प्रायोग्यलब्धि में जो नया कर्मबंध होता है उसमें स्थितिबंध भी अंतःकोडाकोडीसागर का होता है जो क्रमशः घटता जाता है उसे

स्थितिबंधापसरण कहते हैं। हजारों - हजारों स्थितिबंधापसरण होनेपर क्रमशः कुछ प्रकृतियों का बंधना रुक जाता है, इसे प्रकृतिबंधापसरण कहते हैं।

स्थिति और प्रकृति का बंध घटता है, उसीतरह अप्रशस्त कर्मों में घटता हुआ द्विस्थानगत अनुभाग बंध होता है परंतु प्रशस्त प्रकृतियों में बढ़ता हुआ चतुःस्थानगत अनुभाग बंध होता है। प्रदेशबंध भी अनुत्कृष्ट और अजघन्य होता है।

उपरोक्त कार्य करने की योग्यता की प्राप्ति होना प्रायोग्यलब्धि है। इसे प्रायोग्यतालब्धि भी कहते हैं। पूर्व में देखी हुयी तीन लब्धिपूर्वक जीव तत्त्वविचार करने लगता है उस काल में वृध्दिंगत विशुध्दि के कारण ऊपर बतायी हुयी कर्मों की अवस्थायें सहज बनती हैं। उसके लिये जीव को कोई अन्य पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। जीव कुछ विशेष प्रयोग करता हो इसलिए प्रायोग्यलब्धि होती है ऐसा नहीं है। इन चारों लब्धि में जीव बुध्दिपूर्वक इतना ही करता है कि तत्त्व जिज्ञासापूर्वक तत्त्वश्रवणादि करके तत्त्वविचार में लग जाता है।

ऊपर बतायी हुयी बातों की अब विस्तार से चर्चा करेंगे क्योंकि उसमें अनेक पारिभाषिक शब्द हैं। सरल भाषा में कहना हो तो जीव प्रायोग्यलब्धि में आता है तब उसकी सत्ता में पड़े हुये पूर्व बध्द कर्मों की स्थिति घटकर अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण रह जाती है। उसीतरह नया होनेवाला बंध भी अंतःकोडाकोडी सागर से कम स्थितिवाला होता है तथा कितनी ही प्रकृतियों का बंधना रुक जाता है।

सर्व प्रथम अंतःकोडाकोडी सागर का अर्थ समझते हैं। सागर का प्रमाण तुम्हें पता है - १० कोडाकोडी अध्दापल्यों का १ अध्दासागर होता है। कोडाकोडी का अर्थ है करोड़ गुणा करोड़। कर्मों की स्थिति अध्दासागर में बतायी जाती है। क्यों, अध्दापल्य की बात भूल गयी? दुबारा स्थूलरूप से देखते हैं।

१ योजन चौड़ा और १ योजन ऊंड़ा एक गड्ढा अर्थात् पल्य करना - यह सब कल्पना में करना। फिर उत्तम भोगभूमी में जन्मे हुए ७ दिन से कम उम्रवाले मेंढ़ों के बालों के अग्रभागों से वह गड्ढा ठसोठस भर देना - इन्हें

रोमखंड़ कहते हैं। अब हर सौ साल के बाद एक रोमखंड़ निकालना इसतरह जब गड्ढा खाली होगा उतने वर्षों को १ पल्य कहते हैं। १ पल्य के असंख्यातवें भाग में भी असंख्यात करोड़ वर्ष होते हैं। इसे व्यवहार पल्य कहते हैं। ऐसे असंख्यात व्यवहार पल्यों का एक उध्दार पल्य होता है और असंख्यात उध्दार पल्यों का १ अध्दापल्य होता है। ऐसे १० कोडाकोडी अध्दापल्यों का १ सागर होता है। कोई जीव मिथ्यात्व का अतितीव्र परिणाम करे तो वह १ समय में उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक ७० कोडाकोडी सागर वर्षों का स्थितिबंध करता है।

परंतु एक बात जान लो, इसतरह का उत्कृष्ट स्थितिबंध करनेवाला जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता, उसीतरह श्रेणी में आरूढ होनेवाले जीवों के समान जो जघन्य स्थितिबंध करता है उसे भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रायोग्यलब्धि से पहले जीव के आयुबिना सात कर्मों की स्थिति अनेक कोडाकोडी सागरों की होती है। उन सभी सात कर्मों की स्थिति घटकर अंतःकोडाकोडी सागर की रह जाती है अर्थात् करोड गुणा करोड सागर वर्षों से भी कम होती है। कोडाकोडी सागर से कम और करोड़ सागर से अधिक संख्या को अंतःकोडाकोडी सागर कहते हैं। कर्मों की स्थिति का यह घटना स्थितिकांडकघात द्वारा होता है।

कांडक यानि खंड़ अर्थात् टुकड़ा। अनेक निषेकों के समूह को यहाँ कांडक कहते हैं। समान स्थितिवाले परमाणुओं के समूह को निषेक कहते हैं। एक एक समय में एक एक निषेक, इसतरह अनेक कोडाकोडी सागरों के निषेक सत्ता में रहते हैं। उनमें से अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति के निषेक छोड़कर ऊपर के सभी निषेकों के समूह को यहाँ एक कांडकरूप से ग्रहण किया है - बताया है।

प्रायोग्यलब्धि के प्रारंभ में एक अंतर्मुहूर्त काल में इस एक कांडक के सभी निषेकों के सभी परमाणु नीचे के शेष निषेकों में निक्षेपण किये जाते हैं - अर्थात् उनमें आ मिलते हैं। इसे स्थितिकांडकघात कहते हैं।

देखो, यहाँ कर्म अभी सत्ता में ही पड़े हैं परंतु तत्त्वविचार के निमित्त से उनकी अनेक कोडाकोडी सागरों की स्थिति घटकर अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण शेष रह जाती है। यह कार्य आयुबिना शेष समस्त सात कर्मों में होता है अर्थात् अप्रशस्त और प्रशस्त सभी कर्मों की स्थिति घट जाती है। आयु की स्थिति तो जितनी है उतनी ही रहती है।

लब्धिसार ग्रंथ में स्थितिकांडकघात का स्वरूप निम्नप्रकार बताया है - ''स्थितिसत्त्व अर्थात् सत्ता में पड़े हुये कर्मों की स्थिति, उसमें से एक एक समय व्यतीत होनेपर एक एक निषेक ही खिरता है - स्थितिसत्त्व एक एक समय का घटता है। परंतु दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धि के निमित्त से स्थितिकांडकविधान द्वारा अथवा अपकृष्टि विधान द्वारा अर्थात् अपकर्षण द्वारा बहुत अधिक प्रमाण में स्थितिसत्त्व घटता है। स्थितिकांडकघात का विधान अर्थात् उसकी प्रक्रिया निम्नप्रकार है -

अधिक प्रमाणवाला स्थितिसत्त्व होता है, उसमें प्रतिसमय उदय आने योग्य अनेक निषेक होते हैं अर्थात् एक एक समय में एक एक निषेक इसतरह निषेकों की संख्या बहुत होती है। उनमें से ऊपर के अनेक निषेकों का नाश करके स्थितिसत्त्व घटाने को स्थितिकांडकघात कहते हैं। नाश करने योग्य सभी निषेकों के समूह को यहाँ कांडक कहा है। कांडक के निषेकों के सभी परमाणु शेष निषेकों में आवली प्रमाण ऊपर के निषेकों को छोड़कर अर्थात् अतिस्थापनावली छोड़कर नीचे के सभी निषेकों में निक्षेपण किये जाते हैं अर्थात् उनमें आ मिलते हैं - उनकी स्थिति नीचे के निषेकों समान हो जाती है।

इन सर्व परमाणुओं में से कुछ परमाणु प्रथम समय में निक्षेपण किये जाते हैं, कुछ द्वितीयादि समयों में - इसप्रकार यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल तक सभी परमाणु नीचे के निषेकों में आ मिलते हैं और ऊपर के विवक्षित निषेकों का नाश होता है - अभाव होता है। जितने निषेकों का नाश होता है उतने समयों की स्थिति घटती है अर्थात् स्थितिसत्त्व घटता है।

इसे दृष्टांत देकर समझाते हैं। जैसे, स्थितिसत्त्व ४८ समय है, उसके ४८ निषेक हैं और सर्व निषेकों के परमाणु २५००० हैं। उनमें से ८ निषेकों का नाश

करना है अर्थात् ८ निषेकों के एक कांडक का घात करना है, उनमें १००० परमाणु हैं। वे परमाणु शेष ४० निषेकों में से ऊपर के दो निषेकों को छोड़कर नीचे के ३८ निषेकों में आ मिलते हैं। उनमें से कुछ परमाणु पहले समय में, कुछ दूसरे समय में इसप्रकार चार समयों तक मिलते हैं। चौथे समय में शेष सभी परमाणुओं को उन ३८ निषेकों में मिलाकर ऊपर के ८ निषेकों का अभाव होता है। इसतरह ४८ समयों का स्थितिसत्त्व घटकर ४० समय रह जाता है। यह तो दृष्टांत हुआ।

दार्ष्टांत में अर्थात् वास्तव में अनेक कोडाकोडी सागरों के निषेक कांडकघात द्वारा नष्ट होकर उनमें से सर्व परमाणु अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण नीचे के निषेकों में आ मिलते हैं। इसतरह एक अंतर्मुहूर्त में अनेक कोडाकोडी सागरों का स्थितिसत्त्व घटता है। जिस एक आवलीप्रमाण निषकों में ये परमाणु नहीं दिये जाते उन्हें अतिस्थापनावली कहते हैं।''

जिसतरह स्थितिकांडकघात द्वारा कर्मों का स्थितिसत्त्व घटता है और अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण शेष रहता है, उसीप्रकार अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग घटकर अनंतवें भाग प्रमाण अनुभाग शेष रहता है। यह कार्य अनुभागकांडकघात द्वारा सम्पन्न होता है। पूर्व में सत्ता के अप्रशस्त प्रकृतियों में जितना अनुभाग था उसके अनंत भाग करेंगे तो बहुभागवाले स्पर्धकों का अनुभाग घटकर एक भाग जितने स्पर्धकों के समान कम अनुभाग होता है। या इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि तीव्र अनुभागवाले यानि शैल और अस्थिवाले तथा हलाहल और विषवाले स्पर्धक नष्ट होकर उनके परमाणु मंद अनुभाग वाले दारु और लतावाले तथा कांजीर और निंबवाले स्पर्धकों में आ मिलते हैं।

तीव्र अनुभागवाले अनेक स्पर्धकों का अर्थात् एक अनुभागकांडक का नाश एक अंतर्मुहूर्त में होता है, इसे अनुभागकांडकघात कहते हैं। यह प्रक्रिया केवल अप्रशस्त प्रकृतियों में ही होती है। प्रशस्त प्रकृतियों में तो अनुभाग अनंतगुणा बढ़कर चतुःस्थानगत - गुड़, खांड़, शर्करा, अमृत भागरूप हो जाता है।

पूर्व में बंधे हुये और सत्ता में पड़े हुये आयु छोड़कर अन्य सर्व कर्मों की स्थिति इसतरह घटती है। उसीप्रकार अब जो नवीन कर्मबंध होता है वह भी

अंतःकोडाकोडी सागर का ही होता है, तो भी स्थितिसत्त्व के संख्यातवें भाग जितना नया स्थितिबंध होता है। यह स्थितिबंध भी क्रमशः घटता जाता है, इसे स्थितिबंधापसरण कहते हैं। अपसरण अर्थात् कम होना - घटना।

लब्धिसार ग्रंथ में स्थितिबंधापसरण का वर्णन इसप्रकार है -

''स्थितिबंध कषाय के अनुसार होता है इसलिए मिथ्यात्व और कषाय हीन होने से - मंद होने से स्थितिबंध घटता है - नया बंध कम स्थितिवाला होता है। घटने को अपसरण कहते हैं, स्थितिबंध घटने को स्थितिबंधापसरण कहते हैं। प्रायोग्यलब्धि में स्थितिबंध क्रमशः घटता जाता है। जितनी स्थिति कम बंधी अर्थात् स्थितिबंध में जितनी घट हुयी उतना तो स्थितिबंधापसरण हुआ और घटनेपर जितने प्रमाण में स्थिति बंधेगी वह तो स्थितिबंध शेष रहा। जितना स्थितिबंध रहा उतना स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त काल तक समान प्रमाण में होता रहता है, इस काल को स्थितिबंधापसरण काल कहते हैं। इसके पश्चात् दुबारा स्थितिबंधापसरण होता है।

इसे दृष्टांत देकर कथन किया है। जैसे, पहले १ लाख वर्ष का स्थितिबंध होता था, उसमें १००० वर्ष प्रमाण स्थितिबंधापसरण हुआ तब ९९००० वर्ष जितना स्थितिबंध रहा। स्थितिबंधापसरण काल के १ ले समय में, २ रे समय में..... इसतरह अंतर्मुहूर्त काल तक इतना ही समान स्थितिबंध होता रहेगा। पश्चात् ८०० वर्ष प्रमाण दूसरा स्थितिबंधापसरण हुआ, तब ९८२०० वर्ष जितना स्थितिबंध रहा। अंतर्मुहूर्त काल तक इतना समान स्थितिबंध होता रहेगा। पश्चात् तीसरा स्थितिबंधापसरण होगा।

दृष्टांत में १००० वर्ष, ८०० वर्ष का काल्पनिक प्रमाण बताया है। प्रत्यक्ष में पल्य के संख्यातवें भागप्रमाण स्थितिबंधापसरण होता है। इसप्रकार संख्यात (हजारों - करोड़ों) बार स्थितिबंधापसरण होनेपर जब पृथक्त्व सौ सागर अर्थात् ७०० से ८०० सागर जितनी घट होती है तब पहली बार प्रकृतिबंधापसरण होता है, इसे प्रकृतिबंधापसरण का प्रथम स्थान कहते हैं। पृथक्त्व का अर्थ यहाँ ७ से ८ करना। अन्यत्र कहीं पृथक्त्व का अर्थ ३ से ९ करते हैं। पृथक्त्व सौ सागर का अर्थ होता है सातसौ से आठसौ सागर वर्ष।''

जिसतरह स्थितिबंध के क्रमशः घटने को स्थितिबंधापसरण कहते हैं उसीतरह विवक्षित कर्म प्रकृतियों का बंध क्रमशः घटता है - बंध होना रुकता है, इसे प्रकृतिबंधापसरण कहते हैं।

एक एक स्थितिबंधापसरण द्वारा पल्य के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबंध में घट होती है। ऐसे संख्यात हजार स्थितिबंधापसरण होने के पश्चात् जब कुल मिलाकर सातसौ से आठसौ सागर की घट होती है तब प्रकृतिबंधापसरण का एक स्थान आता है। उसमें विवक्षित प्रकृति का बंध रुक जाता है। उसके पश्चात् फिर से संख्यात हजार स्थितिबंधापसरण द्वारा जब स्थितिबंध दुबारा सातसौ से आठसौ सागर जितना घट जाता है, तब प्रकृतिबंधापसरण का दूसरा स्थान आता है। इसमें अन्य विवक्षित कर्मप्रकृति का बंध रुकता है।

इसीप्रकार संख्यात हजार स्थितिबंधापसरण होने के पश्चात् तीसरी बार प्रकृतिबंधापसरण होता है। इसी क्रम से प्रायोग्यलब्धि में प्रकृतिबंधापसरण के कुल चौंतीस स्थान होते हैं। इन चौंतीस स्थानों द्वारा छियालीस प्रकृतियों का बंध रुक जाता है। बंध के रुकने को बंध की व्युच्छित्ति भी कहते हैं, फिर भी प्रकृतिबंधापसरण और बंध की व्युच्छित्ति दोनों भिन्न बातें हैं। उन दोनों में जो अंतर है उसकी चर्चा हम बाद में करेंगे।

इन ३४ स्थानों में जिन ४६ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है, उन्हें देखते हैं। इनमें कुछ स्थानों में एक से अधिक प्रकृति के नाम हैं, वहाँ इन प्रकृतियों का संयोगरूप बंध रुक जाता है ऐसा समझना। जैसे, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त का संयोगरूप बंध रुक जाता है परंतु सूक्ष्म, साधारण, पर्याप्त का बंध होता है या बादर, प्रत्येक, द्वीन्द्रियादि के साथ अपर्याप्त का बंध चालू रहता है। इन प्रकृतियों का एक साथ बंधना रुक जाता है। ये प्रकृति यथासम्भव अन्य प्रकृति के साथ बाद में भी बंधती रहती हैं।

एक बात और समझ लो। यहाँ हम ४६ प्रकृति का बंधापसरण होता है कहते हैं, तब यह समझना कि ये अपुनरुक्त प्रकृति हैं। अपुनरुक्त का अर्थ यह है कि संयोगरूप से किसी प्रकृति का नाम अनेक बार आता है फिर भी उसे

एक बार ही गिनना। जैसे अपर्याप्त नामकर्म का नाम एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय के साथ अनेक बार आया है, परंतु उसे एक बार ही गिनना। इससे विपरीत पर्याप्त नामकर्म संयोगरूप से एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय के साथ अनेक बार आया है, फिर भी संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त का बंध चालू ही रहता है, उसका बंध नहीं रुकता इसलिए बंधापसरण होनेवाली ४६ प्रकृतियों में पर्याप्त नामकर्म को नहीं गिनते। बादर नामकर्म में भी ऐसा ही समझना।

अब हम उन ३४ स्थानों को क्रमशः देखेंगे तो यह बात तुम्हें स्पष्ट समझ में आयेगी। इसमें स्थानों के क्रमांक और उस स्थान में बंधापसरण होनेवाली प्रकृतियों के नाम लिखते हैं।

(१) नरकायु (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु।

यहाँ चारों ही आयुकर्म का बंध क्रमशः रुक जाता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होनेपर क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है तब मनुष्यायु और देवायु का बंध पुनश्च प्रारंभ होता है। अन्य भी कई प्रकृतियों का बंध प्रारंभ होता है। ३३ वें और ३४ वें स्थान में कही गयी कुल ११ प्रकृति का बंध पुनः प्रारंभ होता है।

अब आगे के स्थान देखते हैं।

(५) नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी।

इसके पश्चात् अपर्याप्त नामकर्म के साथ संयोगरूप स्थान इसप्रकार हैं-

(६) सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण।

(७) सूक्ष्म, अपर्याप्त, प्रत्येक।

(८) बादर, अपर्याप्त, साधारण।

(९) बादर, अपर्याप्त, प्रत्येक।

(१०) द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त।

(११) त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त।

(१२) चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त।

(१३) असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त।

(१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त।

इसके पश्चात् पर्याप्त नामकर्म के साथ संयोगरूप स्थान इसप्रकार हैं -

(१५) सूक्ष्म, पर्याप्त, साधारण।

(१६) सूक्ष्म, पर्याप्त, प्रत्येक।

(१७) बादर, पर्याप्त, साधारण।

(१८) बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप।

एकेन्द्रिय संबंधी बंध का यह अंतिम स्थान होने से इसके साथ एकेन्द्रिय, स्थावर प्रकृति का भी बंध रुक जाता है। उसीप्रकार आतप प्रकृति केवल एकेन्द्रिय, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक के साथ ही बंधती है, अन्य के साथ नहीं इसलिए उसका बंध भी इसी के साथ रुक जाता है। इसलिए १८ वां स्थान उपरोक्त छह प्रकृति के संयोगरूप बंधापसरण का स्थान है।

आगे लिखे जानेवाले पर्याप्त के साथवाले स्थान भी द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक ही हैं क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त का बंध तो चालू ही रहता है, उसका बंधापसरण नहीं होता। अब आगे के स्थान देखते हैं।

(१९) द्वीन्द्रिय, पर्याप्त।

(२०) त्रीन्द्रिय, पर्याप्त।

(२१) चतुरिन्द्रिय, पर्याप्त।

(२२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त।

(२३) तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उद्योत।

(२४) नीच गोत्र।

देखो, तिर्यंचगति संबंधी बंध यहाँ रुक जाता है इसलिए उसके साथ बंधनेवाली उद्योत प्रकृति का बंध भी रुक जाता है। यह प्रकृति तिर्यंचगति के साथ एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्याप्त के साथ ही बंधती है।

(२५) अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय।

(२६) हुंडक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

यह छठवां संस्थान और छठवां संहनन है, इसतरह से याद रखना आसान होगा।

(२७) नपुंसकवेद।

(२८) वामन संस्थान, कीलित संहनन (पांचवां संस्थान और पांचवां संहनन)।

(२९) कुब्जक संस्थान, अर्धनाराच संहनन (चौथा संस्थान और चौथा संहनन)।

(३०) स्त्रीवेद।

(३१) स्वाति संस्थान, नाराच संहनन (तीसरा संस्थान और तीसरा संहनन)।

(३२) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान, वज्रनाराच संहनन (दूसरा संस्थान और दूसरा संहनन)।

(३३) मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिक, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन!

यहाँ पहला संहनन तो लिया परंतु पहले संस्थान का बंध तो नहीं रुकता, आठवें गुणस्थान तक उसका बंध होता है। अब इसका कारण पूछने से पहले ही बता देती हूँ।

संहनन नामकर्म तो तिर्यंचगति और मनुष्यगति के साथ ही बंधता है क्यों कि तिर्यंच और मनुष्यों के औदारिक शरीर संहनन से युक्त होते हैं - इनमें एकेन्द्रियों को छोड़कर अन्य सब तिर्यंच समझना। परंतु संस्थान यानि आकार तो चारों गति के साथ बंधता है। आठवें गुणस्थान तक देवगति का बंध होता है तो उसके साथ समचतुरस्र नामक पहला संस्थान नामकर्म भी बंधता रहता है।

अब अंतिम स्थान देखते हैं -

(३४) अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति, अरति और शोक।

बाद में ३३ वें स्थान का बंध पुनः प्रारंभ होकर चौथे गुणस्थान में चालू रहता है, चौथे के अंत में रुकता है। तथा ३४ वें स्थान का बंध पुनः प्रारंभ होकर छठवें गुणस्थान के अंत तक होता रहता है। इसतरह प्रायोग्यलब्धि में ३४ स्थानों द्वारा ४६ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है।

तुम कहोगी, 'चलो, बहुत अच्छी बात बतायी। अब हम प्रायोग्यलब्धि में ही रहेंगे तो हमारे इन प्रकृतियों का बंध होना रुक जायेगा और हमारा संवर प्रारंभ होगा। क्योंकि सात तत्त्व के प्रकरण में हमने सीखा था कि बंध का रुक जाना संवर है।'

बेटियों, ऐसी भूल कभी मत करना। यदि पापप्रकृति का बंध नहीं हुआ और पुण्यप्रकृति का बंध हुआ इसलिए संवर मानोगी तो जब पुण्यप्रकृति के बदले पापप्रकृति बंधेगी तब पुण्यप्रकृति का भी संवर मानना पड़ेगा। यहाँ तो केवल अघातिकर्मों के कुछ पापप्रकृतियों का बंध केवल अंतर्मुहूर्त के लिये रुक गया है। और ऐसे प्रायोग्यलब्धि के परिणाम और प्रकृतिबंधापसरण के ३४ स्थान तो अभव्यों के भी पाये जाते हैं। तो क्या तुम मानोगी कि अभव्य जीवों को भी संवर होता है? घातिकर्म तो समस्त पापरूप ही हैं, वे तो निरंतर बंधते ही हैं।

सबसे बड़ा पाप और पापकर्म तो मिथ्यात्व है। उसका बंध और उदय भी यहाँ चल ही रहा है। करणलब्धि के अंत समय तक मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी कषाय आदि का बंध होता रहता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पहले समय से उनका बंध तथा उदय दोनों मिट जाते हैं। जीव शुध्दोपयोगरूप भावसंवर करता है तब कर्म में मिथ्यात्वादि १६ और अनंतानुबंधी आदि २५ इसतरह कुल ४१ प्रकृतियों का द्रव्यसंवर अपने आप होता है। कर्म की किसी भी अवस्था को जीव कर ही नहीं सकता। जीव मात्र पुरुषार्थ करता है।

पुरुषार्थ पर्याय है। इसकारण वह स्वद्रव्य के सम्पूर्ण भाग में होती है, द्रव्य के बाहर नहीं होती, परद्रव्य में तो होती ही नहीं। इसलिए जीव का पुरुषार्थ जीव में होता है, शरीर या कर्म में नहीं।

यह बात ठीक तरह से समझ लो कि इन पहली चार लब्धि में होनेवाले शुभ - शुभतर विशुध्द परिणामों द्वारा मोक्षमार्ग में अनुकूल संवर नहीं होता।

दूसरी बात, क्या तुम प्रायोग्यलब्धि में ही रहना चाहती हो? या सम्यक्त्व की प्राप्ति करना चाहती हो? इतने में संतुष्ट होकर कुछ पुण्य बांधकर उसका फल कितने काल तक भोगोगी? पुण्य और उसके फल की वांछा में तो मिथ्यात्व पनपता ही रहेगा, उसके बारे में कब सोचोगी? और एक बात, इन चारों लब्धि का प्रत्येक का काल तथा चारों का मिलकर काल एक अंतर्मुहूर्त होता है, अधिक नहीं।

कोई कहेगा कि हम अनेक वर्षों से स्वाध्याय कर रहे हैं, इसलिए इतने सालों से हमारी प्रायोग्यलब्धि चल रही है, तो ऐसा भी है नहीं।

जिस भव में संज्ञी पंचेन्द्रियपना प्राप्त हुआ, वह पूर्ण भव क्षयोपशमलब्धि नहीं है। परंतु सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने योग्य प्रक्रिया जब जब होगी, तब तब क्षयोपशमादि लब्धि होगी और इसी प्रक्रिया द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण करने की अर्थात् प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न होगी। योग्यता हुयी इसलिए सम्यक्त्व होगा ही ऐसा नहीं है परंतु जब सम्यक्त्व होता है तब उसके पूर्व इस लब्धिरूप योग्यता की प्राप्ति अवश्य होती है।

अब हम प्रकृतिबंधापसरण और बंध की व्युच्छित्ति इनमें जो अंतर है उसे देखेंगे, तो तुम्हारी बंधापसरण में संवर होने की कल्पना भी छूट जायेगी।

प्रकृतिबंधापसरण का स्वरूप तो हमने विस्तार से देखा ही है। विवक्षित गुणस्थान में विवक्षित प्रकृति की बंध की व्युच्छित्ति होती है ऐसा जब कहते हैं, तब यह समझना कि उस प्रकृति का बंध उस गुणस्थान के अंत समय तक पाया जाता है, ऊपर के किसी गुणस्थान में नहीं पाया जाता। जैसे, मिथ्यात्व प्रकृति की बंध की व्युच्छित्ति पहले गुणस्थान में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि, मिथ्यात्व प्रकृति पहले गुणस्थान में बंधती है, दूसरे या आगे के किसी गुणस्थान में नहीं बंधती। इसतरह पहले गुणस्थान में कुल १६ प्रकृतियों की बंध की व्युच्छित्ति होती है।

उसीप्रकार अनंतानुबंधी आदि २५ प्रकृतियों की बंध की व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे प्रकृति दूसरे गुणस्थान के अंत तक ही बंधती हैं अर्थात् पहले और दूसरे गुणस्थान में बंधती हैं, ऊपर के किसी गुणस्थान में नहीं बंधती। इसतरह हरेक गुणस्थान की बंधव्युच्छित्ति निश्चित है। उसकी चर्चा हम भविष्य में करेंगे। यहाँ तो हम उन दोनों में अंतर देख रहे हैं।

प्रकृतिबंधापसरण तो प्रायोग्यलब्धि से लेकर उपशम सम्यक्त्व के काल तक होता है, उसमें केवल अघातिकर्मों के कुछ पाप प्रकृतियों का बंध अंतर्मुहूर्त तक रुक जाता है। जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता तब तक इसे संवर नहीं कह सकते। क्योंकि यहाँ तो मिथ्यात्व गुणस्थान ही चल रहा है।

जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके जब ऊपर के गुणस्थान में पहुंचता है तभी पूर्व के गुणस्थानों में होनेवाले बंध की व्युच्छित्ति हुयी कहेंगे। सम्यक्त्व प्राप्त करते ही चौथे गुणस्थान में जानेपर मिथ्यात्वादि १६ और अनंतानुबंधी आदि २५ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति हो जाती है। इसे ४१ प्रकृति का संवर कहेंगे।

बंधापसरण तो मात्र अंतर्मुहूर्त के लिये ही होता है परंतु बंध व्युच्छित्ति तो जब तक जीव ऊपर के गुणस्थानों में है तब तक नीचे के गुणस्थानों संबंधी बंध की व्युच्छित्ति कायम रहती है। प्रकृतिबंधापसरण तो भव्य अभव्य दोनों में होता है परंतु बंध की व्युच्छित्ति तो भव्य में, वह भी सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर होगी।

यहाँ हम प्रायोग्यलब्धि का स्वरूप देख रहे हैं। जीव के परिणाम प्रतिसमय अधिकाधिक विशुध्द होते जाते हैं उसके निमित्त से कर्मों की सत्ता, बंध तथा उदय सभी में परिवर्तन होते हैं। सत्ता में पड़े हुये कर्मों की स्थिति और अनुभाग स्थितिकांडकघात और अनुभागकांडकघात द्वारा घटता है। नया बंध होता है उसमें भी स्थितिबंध स्थितिबंधापसरण द्वारा और विवक्षित प्रकृतियों का बंध प्रकृतिबंधापसरण द्वारा घटता जाता है। हमने बंध के चार प्रकार देखे थे। प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध।

यहाँ प्रदेशबंध भी अनुत्कृष्ट और अजघन्य होता है। प्रदेशबंध का तात्पर्य यह है कि एक समय में जितने कर्म परमाणु बंधते हैं उनकी संख्या। सबसे

कम संख्या को जघन्य प्रदेशबंध कहते हैं तथा सबसे अधिक संख्या को उत्कृष्ट प्रदेशबंध कहते हैं। उन दोनों के बीचवाले मध्यम संख्या में से उत्कृष्ट की ओर अनुत्कृष्ट और जघन्य की ओर अजघन्य प्रदेशबंध कहलाता है।

अनुभागबंध में कुछ विशेषता है। उसमें केवल घटना नहीं है। अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभागबंध द्विस्थानीय होता है, उसमें भी प्रतिसमय अनुभाग अनंतगुणा घटता हुआ बंधता है अर्थात् पापप्रकृतियों का अनुभाग अत्यंत घटता हुआ बंधता है। परंतु प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग इससे उल्टा अर्थात् चतुःस्थानीय और वह भी प्रतिसमय अनंतगुणा बढ़ता हुआ बंधता है।

अब यहाँ उदय में आनेवाले कर्मों में कौनसा परिवर्तन होता है इसे देखते हैं। जिस कर्म का उदय है उस कर्म का जीव भोक्ता होता है। उदय तो एक समय में एक ही निषेक का होता है। इसलिए वर्तमान एक समय के स्थितिवाला - एक निषेक का उदय होता है। अनुभागउदय में अप्रशस्त कर्मों का द्विस्थानरूप और प्रशस्त प्रकृतियों का चतुःस्थानरूप अनुभाग उदय होता है - जीव उनका भोक्ता होता है। देखो तो, पूर्वबध्द तीव्र पापकर्म का फल मंद होकर उदय में आता है और पूर्वबध्द पुण्यकर्म का फल अधिक प्रमाण में उदय में आता है।

प्रदेशउदय भी अजघन्य और अनुत्कृष्ट होता है। जो प्रकृति उदयरूप हैं उन्हीं की उदीरणा होती है।

इसतरह प्रायोग्यलब्धि में कर्मों में होनेवाले अनेक परिवर्तनों की हमने चर्चा की। शेष चर्चा आगामी पत्र में करेंगे।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

करणलब्धि - अधःप्रवृत्तकरण

पत्रांक ९ १२ अक्तूबर २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पहले होनेवाली पांच लब्धि का स्वरूप हम देख रहे हैं। उनमें से हमने चार लब्धिसंबंधी चर्चा की है। हमने यह भी देखा कि भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को प्रायोग्यलब्धि तक की चारों लब्धि हो सकती हैं। परंतु पांचवी करणलब्धि तो मात्र भव्य जीवों के ही होती है, अभव्य जीव तो करणलब्धि प्राप्त कर ही नहीं सकते।

भव्य जीवों में से कुछ जीव करणलब्धि प्राप्त करेंगे अथवा कितने ही जीव नहीं भी करेंगे। उन जीवों में पात्रता होनेपर भी उपादानगत योग्यतानुसार, पुरुषार्थानुसार, भवितव्यतानुसार और काललब्धि अनुसार जो जीव अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाले हो वे ही जीव करणलब्धि में प्रवेश करेंगे अर्थात् उनके करणलब्धि होगी। वहाँ निमित्तरूप से कर्म का उपशम कर्म की स्वयं की उपादान योग्यता से स्वयमेव होगा।

शास्त्र में काललब्धि की अपेक्षा से - उसकी मुख्यता से कथन करते हैं तब कहा जाता है कि जिसकी काललब्धि आयी हो उसी को सम्यक्त्व प्रकट होगा। कथन किसी एक समवाय की अपेक्षा से किया हो, तो भी वहाँ पांचों ही समवाय का सुमेल होता है। उपदेश में पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हुये पुरुषार्थ की मुख्यता से कथन किया जाता है कि जो जीव मोक्ष का पुरुषार्थ करेगा - मोक्ष का उपाय करेगा, उसके पांचों ही समवाय उपस्थित रहते हैं और उसका मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है।

देखो, यहाँ सम्यक्त्व का पुरुषार्थ न कहकर मोक्ष का पुरुषार्थ कहा है। तत्त्वनिर्णय करके, स्व और पर का भेदविज्ञान करके, अभेद अखंड त्रिकाली ध्रुव निज शुध्दात्मा को निजरूप से जानते रहना यही पुरुषार्थ है। इस भेदविज्ञान

द्वारा ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है, इसी के द्वारा ऊपर के गुणस्थान प्राप्त होते हैं और केवलज्ञान भी इसी के द्वारा प्रकट होता है।

यही मोक्षमार्ग प्रकट होने की विधि है। इसलिए 'केवली भगवान ने हमारा सम्यक्त्व जब होनेवाला है जाना है, तभी होगा, तो फिर पुरुषार्थ करने का उपदेश क्यों देते हो?' अथवा 'केवली भगवान ने हमारी भविष्य की पर्यायें जैसी होनेवाली हैं वैसी जानी है, इसलिए वे उसीप्रकार होगी ही। तो फिर हमारा पुरुषार्थ क्या रहा? हम तो पराधीन हो गये।' आदि प्रश्न तथा मान्यतायें भूल भरी हैं यह बात तुम्हारे ख्याल में आ गयी होगी।

तुमने इस बात का आश्चर्य व्यक्त किया था कि भव्य जीवों के समान अभव्य जीवों के भी प्रायोग्यलब्धि हो सकती है और उनके कर्मों में भी स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात, स्थितिबंधापसरण, प्रकृतिबंधापसरण आदि बातें होती हैं।

बेटियों, शुभ भाव तो भव्य अभव्य दोनों को होते हैं, उनके निमित्त से प्रशस्त कर्मों का बंध होता है। परंतु भव्य जीव भी यदि प्रायोग्यलब्धि तक आकर स्वभाव सन्मुखता का, तत्त्वनिर्णय का एवं तदनुरूप परिणमन का पुरुषार्थ नहीं करेंगे अर्थात् यदि उन्हें करणलब्धि प्राप्त नहीं होगी तो उन्हें भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होगी।

जिस करणलब्धि का नाम तुमने अनेक बार सुना है और जिसके होनेपर नियम से सम्यक्त्व होता ही होता है तथा जिसके नहीं होनेपर सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता, उसका स्वरूप जानने के लिये तुम बहुत उत्सुक हो यह बात मैं जानती हूँ। अब उसकी चर्चा करते हैं।

'करण' परिणाम को कहते हैं। पूर्वोक्त चार लब्धिपूर्वक जीव के परिणामों की विशुध्दि प्रतिसमय वृध्दिंगत होती जाती है। चारों गति के और त्रिकालवर्ती समस्त जीव, कि जो करणलब्धि में प्रवेश कर चुके हैं, उन जीवों के परिणामों की तुलना करनेपर उनमें तीन प्रकार पाये जाते हैं। देखो, केवलीभगवान तो सभी द्रव्य गुण पर्यायों को जानते हैं। अनंत जीवों के अनादि अनंत काल के प्रतिसमय के परिणामों को वे एकसाथ जानते हैं।

पूर्व में जिन जीवों ने करणलब्धि के परिणाम किये थे, वर्तमान में जो कर रहे हैं और भविष्य में जो जीव करेंगे उन सभी जीवों के परिणामों को केवली भगवान युगपत् जानते हैं। प्रत्येक जीव के परिणामों की विशुध्दि प्रतिसमय अनंत गुणा बढ़ती है। परंतु भिन्न भिन्न जीवों के परिणामों में समानता या असमानता होने की अपेक्षा से इन परिणामों के तीन भेद किये जाते हैं। उन परिणामों के या तीन करण के नाम इसप्रकार हैं -

१) अधःप्रवृत्तकरण।

२) अपूर्वकरण।

३) अनिवृत्तिकरण।

इसप्रकार चार लब्धिपूर्वक जीव का उपयोग जब निजशुध्दात्मा की ओर लगता है तब क्रम से अधःप्रवृत्तकरण अर्थात् अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम होते हैं। इसे करणलब्धि कहते हैं।

करणलब्धि का काल एक अंतर्मुहूर्त होता है, तीनों करणों का काल भी अपना अपना एक एक अंतर्मुहूर्त होता है। तथापि अनिवृत्तिकरण का काल सबसे अल्प है, अपूर्वकरण का काल उससे संख्यातगुणा बड़ा है और अधःकरण का काल उससे भी संख्यातगुणा बड़ा है।

सर्व प्रथम तीनों करणों का स्वरूप एवं विशेषता देखकर पश्चात् उसपर सविस्तार चर्चा करते हैं।

अधःप्रवृत्तकरण : अधःप्रवृत्तकरण मांडकर जिसे अधिक समय हुये हैं, ऐसे ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम और अधःप्रवृत्तकरण मांडकर थोड़े ही समय हुये हैं, ऐसे निचले समयवर्ती कुछ जीवों के परिणाम इनमें संख्या और विशुध्दता की समानता हो सकती है। इसे अनुकृष्टि रचना कहते हैं।

यहाँ चार आवश्यक होते हैं। नियम से होनेवाली बातों को आवश्यक कहते हैं। वे इसप्रकार हैं -

१) विशुध्दि समय समय प्रति अनंतगुणा बढ़ती है।

२) स्थितिबंधापसरण होता है।

३) प्रशस्त प्रकृतियों में प्रतिसमय अनंतगुणा बढ़ता हुआ चतुःस्थानगत अनुभागबंध होता है।

४) अप्रशस्त प्रकृतियों में प्रतिसमय अनंतगुणा घटता हुआ द्विस्थानगत अनुभागबंध होता है।

अलग अलग जीवों के विशुध्दि के परिणाम अलग अलग होते हैं। तीनों काल के अनंत जीवों के करणलब्धि के परिणाम जिनेन्द्र भगवान ने प्रत्यक्ष जाने हैं और बताये हैं, जो असंख्यात लोक प्रमाण हैं। लोकाकाश में जितने असंख्यात प्रदेश हैं उस संख्या को एक लोक कहते हैं और उसे सहनानी या चिन्ह द्वारा बताना हो तो '𝍪' ऐसा बताते हैं। ऐसे १ लोक, २लोक, ३लोक, करोड़ लोक - - - असंख्यात लोक बताने के लिये ' 𝍪𝍳 ' ऐसा चिन्ह लिखते हैं।

हमारे सुबह के स्वाध्याय में अभी पं. टोडरमलजी का 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' चल रहा है। पल्य, असंख्यात, अनंत आदि बड़ी बड़ी संख्याओं को चिन्हों द्वारा - संदृष्टि द्वारा बताकर उसके गणित इसमें समझाये हैं। उसमें से यह चिन्ह तुम्हें बता रही हूँ।

अब अपूर्वकरण का स्वरूप और विशेषता देखते हैं।

अपूर्वकरण : यहाँ समय समय प्रति विशुध्दि के परिणाम अपूर्व अपूर्व होते हैं। नीचे के और ऊपर के समयवर्ती परिणाम कभी भी समान नहीं हो सकते अर्थात् यहाँ अनुकृष्टि रचना नहीं होती। अधःप्रवृत्तकरण में होनेवाले चार आवश्यकों के साथ साथ यहाँ चार आवश्यक और होते हैं -

१) गुणश्रेणी २) गुणसंक्रमण

३) स्थितिकांडकघात ४) अनुभागकांडकघात।

अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों से भी यहाँ के परिणाम असंख्यात लोक गुणा हो जाते हैं इसे संदृष्टि द्वारा इसप्रकार लिखते हैं '𝍪𝍳 𝍪𝍳 '।

उपरोक्त सभी आवश्यकों का सविस्तार स्वरूप हम बाद में देखेंगे। उसके पहले अनिवृत्तिकरण का स्वरूप देखते हैं।

अनिवृत्तिकरण : निवृत्ति = परिणामों में भेद या असमानता।

अनिवृत्ति = त्रिकालवर्ती नाना जीवों के परिणामों में समानता।

यहाँ प्रत्येक समय के परिणाम अनंतगुणा विशुध्द होते जाते हैं, फिर भी सभी अनंत जीवों के एक एक समय के परिणाम समान पाये जाते हैं। यहाँ भी आयु बिना शेष सात कर्मों में गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडकघात और अनुभागकांडकघात होते हैं। अनिवृत्तिकरण का संख्यात बहुभाग बीत जानेपर दर्शनमोहनीय कर्म का 'अंतरकरण' और 'उपशमकरण' होता है।

अब इन तीनों करणों का स्वरूप विस्तार से देखते हैं। इसमें अनेक नये शब्द पढ़कर घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। बारम्बार सुनने या पढ़ने से हम किसी भी विषय से परिचित हो जाते हैं। मोना, तुमने ही तो बताया था कि रोज तुम रिया को छह द्रव्य, सात तत्त्व, इंद्रियां, पाप, कषाय आदि के नाम सिखाती हो। पांच साल की रिया जब कषायों के नाम बताते हुये क्रोध, मान कहकर रुक गयी तो पावणे दो साल का सोहम् उसकी तोतली भाषा में झट से बोला 'माया, लोभ'। तब मोना,तुम स्वयं आश्चर्यचकित हो गयी थी और अब रोज दोनों ही बच्चों को सिखाती हो। यह बहुत अच्छी बात है।

छोटे बच्चों की आकलन तथा निरीक्षण शक्ति तीक्ष्ण होती है, बड़ों का अनुकरण करने की वृत्ति उनमें पायी जाती है। रीना, सात और पांच साल के तेरे रोहित और रोहन तेरे से स्वाध्याय की बातें तो सीखते ही हैं, साथ साथ कुदेवादिकों को नहीं मानना, अभक्ष्यभक्षण नहीं करना, बाजार के केक आदि न खाना इस संबंध में भी वे बहुत चुस्त हैं। किसी के घर पर कोई नया पदार्थ खाने का प्रसंग आ जाये तो पहले वे पूछते हैं 'मम्मी, क्या तुम यह पदार्थ खा सकती हो? यदि हाँ, तो ही हम खायेंगे।'

बच्चों पर सुयोग्य संस्कार करना यही उनके हित की बात है, यही उनके लिये उत्तम धन है। ये सब बच्चे प्रशंसा के पात्र हैं ही, तुम दोनों भी सुयोग्य

माता का कर्तव्य कर रही हो इस बात का मुझे समाधान है। अब अपने बच्चों के साथ साथ पहचानवालों या रिश्तेदारों के अन्य बालकों को भी जरूर पढ़ाना। यह भी स्वाध्याय का अंग है। हमें कुछ नहीं आता यह विकल्प मत करना।

मुझे भी कहाँ अधिक ज्ञान है? मेरे अल्प ज्ञान में जो कुछ आया है, उसे शास्त्रानुसार लिखने का विकल्प आता है, उसमें मेरा ही गहरा चिंतन होता है। हो सकता है इसके निमित्त से तुम्हारी रुचि जाग्रत होकर तुम्हें मूल ग्रंथ पढ़ने की प्रेरणा मिले और ग्रंथों का अर्थ करने में तुम्हें सुलभता प्राप्त हो।

तुम्हारा प्रश्न था कि, 'तुम शुध्दोपयोग की तो बात नहीं कर रही हो, मात्र करणपरिणामों के फलस्वरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ऐसा बारम्बार कह रही हो, ऐसा क्यों?'

अच्छा प्रश्न है। यहाँ हम करणानुयोग द्वारा परिणामों तथा कर्मों का सूक्ष्म वर्णन देख रहे हैं। प्रत्येक अनुयोग की भाषा अर्थात् वर्णन करने की पध्दति भिन्न भिन्न होती है। मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में पं. टोडरमलजी इस विषय को इसप्रकार समझाते हैं -

''चरणानुयोग में बाह्य क्रिया की मुख्यता से समझाया जाता है, द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से वर्णन किया जाता है और करणानुयोग में सूक्ष्म वर्णन किया जाता है। द्रव्यानुयोग में स्थूल निरूपण होता है। द्रव्यानुयोग में उपयोग के तीन भेद बताये हैं - शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुध्दोपयोग। छद्मस्थ जीवों के बुध्दिगोचर अर्थात् ज्ञान में आनेयोग्य परिणामों की अपेक्षा से यह कथन किया जाता है। इसमें धर्मानुरागरूप परिणाम शुभोपयोग है, पापानुरागरूप और द्वेषरूप परिणाम अशुभोपयोग है तथा रागद्वेषरहित परिणाम शुध्दोपयोग है - ऐसा कहा जाता है।

करणानुयोग में कषायशक्ति की अपेक्षा से गुणस्थानों में संक्लेश या विशुध्द परिणामों की अपेक्षा से कथन किया जाता है। करणानुयोग में रागादिरहित शुध्दोपयोग यथाख्यात चारित्र होनेपर होता है और वह मोह का नाश होनेपर स्वयमेव होता है। नीचे के गुणस्थानों में ऐसा शुध्दोपयोग किस तरह हो सकता

है? परंतु द्रव्यानुयोग में शुध्दोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश दिया जाता है। इसलिए छद्मस्थ जीव जिस काल में बुध्दिगोचर भक्ति आदि तथा हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभवनादि कार्य में प्रवर्तन करता है, उस काल में उसे शुध्दोपयोगी कहते हैं। उस काल में भी केवलज्ञानगम्य सूक्ष्म रागादिक होते हैं, परंतु द्रव्यानुयोग में उसकी विवक्षा नहीं की जाती, स्वयं की बुध्दि में जाने जानेवाले - बुध्दिगोचर रागादिक छोड़ने की अपेक्षा से उसे शुध्दोपयोगी कहते हैं।

यथाख्यात चारित्र होनेपर द्रव्यानुयोग और करणानुयोग दोनों की अपेक्षा शुध्दोपयोग है परंतु नीचे के गुणस्थानों में (४ थे, ५वें आदि) द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से कभी कभी शुध्दोपयोग होता है परंतु करणानुयोग की अपेक्षा से सदा ही कषाय अंश का सद्भाव होने से शुध्दोपयोग नहीं होता। इसलिए द्रव्यानुयोग की कथनपध्दति करणानुयोग से मिलाने पर कभी मिलती है तो कभी नहीं मिलती।''

पं. टोडरमलजी आगे लिखते हैं -

''करणानुयोग में कषायशक्ति की अपेक्षा से कथन होता है। कषायों की प्रवृत्ति अलग बात है और अंतरंग कषायशक्ति अलग बात है। किसी जीव के कषायों की प्रवृत्ति अधिक हो और यदि उसकी अंतरंग कषायशक्ति कम हो तो उसे मंदकषायी कहते हैं। परंतु जिन जीवों की कषायों की प्रवृत्ति थोड़ी है परंतु अंतरंग कषायशक्ति बहुत अधिक हो तो उन्हें तीव्रकषायी कहते हैं। जैसे, व्यंतरादि देव कषाय से नगरादि का नाश करने का कार्य करे तो भी उनकी कषायशक्ति थोड़ी होने से उनके पीत लेश्या होती है। इससे विपरीत एकेन्द्रियादि जीव कोई भी कषायकार्य करते हुये नहीं दिखायी देते फिर भी कषायशक्ति बहुत ज्यादा होने से उनके कृष्णादि तीन लेश्या होती हैं।

सर्वार्थसिध्दि नामक सबसे ऊपर के स्वर्ग के देव कषायरूप थोड़ा प्रवर्तन करते हैं परंतु कषायशक्ति अधिक होने से उनके असंयम है, इससे विपरीत पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ शादि - ब्याह करता है, व्यापारादि करता है आदि

कषायकार्य तो बहुत करता है, परंतु कषायशक्ति मंद होने से उन्हें देशसंयमी कहा है।''

एक एक लेश्या में असंख्यात लोकप्रमाण कषायों के स्थान होते हैं, मंद तीव्र भेद होते हैं। जीव के सभी कषाय असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं, उसे यथायोग्य असंख्यात लोक से भाग देनेपर भी असंख्यात लोक ही आता है। उसमें बहुभाग प्रमाण तो संक्लेश परिणाम हैं जिनमें कृष्ण, नील और कपोत लेश्या होती हैं। एकभाग प्रमाण विशुध्द परिणाम हैं जिनमें पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती हैं।

संक्लेश परिणामों में किसी एक लेश्या में तीव्र संक्लेश को तीव्र कषाय और संक्लेश की हानि को मंदकषाय कहते हैं। परंतु विशुध्द परिणामों मे किसी एक लेश्या में विशुध्दि की वृध्दि को मंदकषाय और विशुध्दि की हानि को तीव्र कषाय कहते हैं।

ऊपर के उदाहरण में सर्वार्थसिध्दि के देवों को तीन कषाय चौकडी विद्यमान हैं - अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव को दो कषाय चौकडी विद्यमान हैं - प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। अप्रत्याख्यानावरण में कषायशक्ति अधिक है वह किंचित् भी त्याग के परिणाम नहीं होने देता, चूंकि सर्वार्थसिध्दिवालों के तो शुक्ल लेश्या ही होती है। प्रत्याख्यानावरण में उससे कषायशक्ति कम है उसके कारण पंचम गुणस्थानवर्ती को थोड़ा त्याग तो हो सकता है, परंतु सकल संयम नहीं होने देता। इसलिए पीतादि तीन लेश्या होनेपर भी वहाँ देशसंयम कहा है।

पं. टोडरमलजी कहते हैं -

''कषायों की भांति योग के बारे में भी ऐसा ही है। योग की प्रवृत्ति अलग बात है और कर्माकर्षण योगशक्ति अलग बात है। (कर्माकर्षण शक्ति का अर्थ है कर्म को आकर्षण करने की योगशक्ति जिसे भावयोग कहते हैं।) किसी जीव के मन, वचन, काया की प्रवृत्ति - क्रिया बहुत थोड़ी दिखायी देती है, परंतु कर्माकर्षण शक्ति की अपेक्षा से उसके योग अधिक है। इसके विपरीत किसी

जीवों की यह प्रवृत्ति - प्रयत्न अधिक दिखायी देते हैं परंतु कर्माकर्षण शक्ति अल्प होने से अल्पयोग कहा है। जैसे, केवलीभगवान गमनादि क्रिया से रहित हैं, उन्हें योग अधिक है और द्वीन्द्रियादिक जीव गमनादि करते हैं, तो भी उनके योग अल्प है।

करणानुयोग में परिणाम और कर्मों की अवस्था का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है। उसके अनुसार प्रयत्नपूर्वक कोई भी उद्यम हो नहीं सकता। करणानुयोग में यथार्थ वस्तुस्थिति बतायी जाती है, उसमें आचरण की मुख्यता नहीं होती। चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग आदि के उपदेशानुसार जो चलेगा, उसके निमित्त से जो कार्य होना होगा वह स्वयमेव होगा। जैसे, कोई कर्म का उपशम आदि करना चाहे तो किस प्रकार होगा? जो स्वयं तत्त्वादिकों का निर्णय करने का उद्यम करेगा उसके निमित्त से सहज ही उपशमादि सम्यक्त्व होता है।

इसलिए करणानुयोगानुसार जैसा है वैसा जान लेना परंतु प्रवृत्ति तो बुध्दिगोचर जिससे भला होगा वैसी करना।''

यह सम्पूर्ण विवेचन मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के आठवें अधिकार में है। तुम पूछोगी, 'यदि प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ द्रव्यानुयोगानुसार तत्त्व जानकर तत्त्वनिर्णय करने का ही है, तो करणानुयोग जानना ही क्यों? बिना वजह समय और शक्ति का अपव्यय क्यों करें?'

बेटियों, हमें जिसमें रुचि है ऐसे मोक्षमार्ग का सर्वांगीण स्वरूप जानने की जिज्ञासा भी सहज ही होती है। दुनियाभर की अन्य घटनाओं को जानने का रस कम होकर सत्यस्थिति जानने का उत्साह होना स्वाभाविक है। जिन्हें क्रिकेट में रुचि है, क्या उन्हें मैच किसने जीति इतना ही सुनकर समाधान होता है? वे लोग तो दिनभर टी. व्ही. के सामने बैठकर शुरू से अंत तक मैच देखते हैं, दुबारा हायलाइट्स देखते हैं, पुनःपुनः उसी विषय पर एकदूसरे से बातचीत करते हैं।

मेरे जैसे किसी को प्रश्न उठता है कि एक गेंद को उछालने में इतने सारे खिलाड़ी दौड़धूप करते हैं और उन्हें देखते हुये लाखो जीव ऊपर नीचे होते हैं -

हर्ष शोक मनाते हैं; ऐसा उसमें क्या है? इसपर कोई क्रिकेटरसिक उत्तर देगा, 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख' अर्थात् 'हे भगवान, जिसे काव्य, साहित्य, विनोद आदि में रस नहीं, उसकी रुचि नहीं उसे काव्य क्या है समझाना मेरे नसीब में कभी मत लिखना'।

परंतु यहाँ तो जिसे करणानुयोग में रस या रुचि नहीं है, ऐसे जीवों को भी उन्हीं के कल्याण हेतु कहने का मन होता है कि 'हे जीव, तुम क्या कर रहे हो इसकी तुम्हें खबर नहीं है। अनादि कर्मबंध में फंसकर निरंतर कर्मबंधन का ही कार्य तुम कर रहे हो। देखो, इसमें से छूटने का मार्ग अत्यंत सरल, सुलभ और सहज है। सुनो, तुम तो केवल तत्त्वविचारादिक का कार्य करो, कर्म में ये सारे अवस्थांतर स्वयमेव होंगे, तुम्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी, तुम्हारे कर्मबंधन ढ़ीले पडेंगे। पूर्वबध्द पापकर्म शक्तिहीन होंगे, उनकी स्थिति भी घटेगी परंतु पुण्यकर्मों की शक्ति बढ़कर तुम्हें उनका फल भी मिलता रहेगा तथा उनका भी नाश होकर तुम्हें शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति होगी।'

यहाँ हम करणानुयोग के आधार से करण परिणामों की चर्चा कर रहे हैं। पूर्वोक्त चार लब्धिपूर्वक जीव करण परिणाम मांडता है अर्थात् जयसेनाचार्य की भाषा में कहना हो तो, 'अध्यात्मभाषा में निजशुध्दात्मभावनारूप सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा और आगमभाषा में अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीन करण परिणामों द्वारा आत्मा में लीन होता है - एकाग्र होता है।' यहाँ भावना का अर्थ है उसरूप होना - एकाग्र होना। मात्र इच्छा करते रहना यह भावना शब्द का अर्थ नहीं है।

पं. टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखते हैं -

''करणलब्धिवाले जीव का बुध्दिपूर्वक इतना ही उद्यम होता है कि वह तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाता है, उसके कारण प्रतिसमय परिणाम निर्मल होते जाते हैं और तत्त्वोपदेश का विचार निर्मल होते जाने से थोड़े ही काल में उसे तत्त्वश्रध्दानरूप सम्यक्त्व होता है। इन परिणामों की तारतम्यता केवलज्ञानी जानते हैं, उनका निरूपण करणानुयोग में किया है।''

अब हम एक एक करण परिणाम का स्वरूप विस्तार से देखेंगे। तत्त्वविचार और तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगता है तब जीव के परिणाम अनंतगुणा विशुध्द होते जाते हैं। हमने विशुध्दिलब्धि में विशुध्दि बढ़ने की बात की थी और अब यहाँ करणलब्धि में भी विशुध्दि कही जाती है। पहले तो सातावेदनीय आदि प्रकृतियों के बंध के कारणभूत परिणामों को विशुध्द परिणाम कहा था, अब यहाँ जो विशुध्दि है वह तत्त्वज्ञानसंबंधी निर्मलता जानना, श्रध्दासंबंधी निर्मलता जानना। यहाँ करणलब्धि में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय उत्तरोत्तर मंद, मंदतर, मंदतम होते जाते हैं उनकी अपेक्षा से विशुध्दि समझना।

हमने पहले देखा था कि चारों गतिवाला भव्य मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। उसमें कोई सातवें नरक का नारकी होगा जिसके कृष्ण लेश्या होती है, कोई नौवे ग्रैवेयक स्वर्ग का मिथ्यादृष्टि होगा जो शुक्ल लेश्यावाला होता है, कोई मनुष्य या तिर्यंच होगा जिनके पीत, पद्म या शुक्ल लेश्या होती है। यहाँ अपनी अपनी लेश्या तो कायम रहती है, परंतु अशुभ लेश्यावालों के संक्लेश घटते हैं तो शुभलेश्यावालों के विशुध्दि बढ़ती है। उनके कषायों के स्थान अपने पूर्व परिणामों से घटते हुये होते हैं।

फिर भी उन समस्त जीवों में तत्त्वज्ञान की निर्मलतारूप विशुध्द परिणामों में प्रारंभ में समानता या असमानता होती है और अनिवृत्तिकरण में सबके परिणाम एक से विशुध्द होते हैं - समान होते हैं।

अधःप्रवृत्तकरण में ऊपर और नीचे के समयों में समान परिणाम होते हैं, उसे अनुकृष्टिरचना कहते हैं। उसका स्वरूप अब हम देखेंगे। तुम टी. व्ही. पर क्रिकेट मैच देखती हो। उस मैच का वर्णन - कॉमेंटरी करते करते पूर्व में खेली गयी अन्य मैचों के साथ उसकी तुलना करके उसका विवरण किया जाता है। कोई टीम चौथे ओव्हर तक जितने रन (धावसंख्या) निकालता है उतने ही रन कोई टीम तीसरी ओव्हर तक, कोई दूसरी ओव्हर तक, तो को कोई पहली ही ओव्हर में करता हैं। उनकी धावसंख्या में इसप्रकार की समानता हो सकती है। उसीप्रकार यहाँ त्रिकालवर्ती अनंत जीव जो अधःप्रवृत्तकरण मांडते हैं उनके परिणामों में प्रथम, द्वितीय आदि समयों में समानता हो सकती है।

क्रिकेट में तो भूतकालीन मैच के साथ तुलना होती है परंतु केवली भगवान तो एक साथ सभी जीवों के भूत, भावी तथा वर्तमान सभी परिणाम जानते हैं। उन परिणामों की विशुध्दि देखेंगे तो अलग अलग जीवों में अलग अलग परिणामों की संख्या असंख्यात लोकप्रमाण होती है।

अधःप्रवृत्तकरण के अंतर्मुहूर्त काल के प्रतिसमय में परिणामों की संख्या विशिष्ट होती है। उसमें पहले समय में जितने परिणाम हो सकते हैं उनसे दूसरे समय में विशुध्दि तो अनंतगुणा बढ़ती ही है परंतु परिणामों की संख्या में विशिष्ट वृध्दि होती है। तीसरे समय में विशुध्दि उससे भी अनंतगुणा होती है और उनकी संख्या में वैसी ही समान वृध्दि होती है। प्रतिसमय संख्या में समान वृध्दि होती है इसे 'चय' कहते हैं। इसतरह सभी समयों के कुल परिणामों की संख्या असंख्यात लोक प्रमाण होती है। इसका सविस्तार वर्णन जीवकाण्ड, लब्धिसार आदि ग्रंथों में किया है। हम यहाँ स्थूलरूप से उसकी चर्चा करेंगे।

हम यहाँ काल्पनिक संख्यायें लेकर इस अधःप्रवृत्तकरण की अनुकृष्टि रचना को समझेंगे। इन काल्पनिक संख्याओं द्वारा गणित को समझना 'अंकसंदृष्टि' कहलाता है और यथार्थ संख्याओं द्वारा उसे समझना 'अर्थसंदृष्टि' कहलाता है।

अधःप्रवृत्तकरण की अंकसंदृष्टि इसप्रकार है -

अधःप्रवृत्तकरण का काल अंतर्मुहूर्त है, हम मानेंगे १६ समय है। त्रिकालवर्ती अनंत जीवों के अधःकरण परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं, हम मानेंगे ३०७२ हैं। पहले समय में अलग अलग जीवों की विशुध्दि अलग अलग होती है। सबसे जघन्य विशुध्दि को हम पहले क्रमांक का परिणाम कहेंगे, उससे अधिक विशुद्ध कोई अन्य परिणाम दूसरे क्रमांक पर है, उससे भी अधिक विशुद्ध ऐसा तीसरा परिणाम है। इसप्रकार पहले समय में संभवते ऐसे परिणाम यहाँ अंकसंदृष्टि में १६२ हैं। इन परिणामों के हम चार खण्ड करेंगे - चार ग्रुप्स बनायेंगे। परंतु पहले ग्रुप से दूसरे में एक परिणाम अधिक होगा (+१),

दूसरे से तीसरे में और एक अधिक (+२) तथा तीसरे से चौथे में और एक अधिक (+३)। इस एक एक अधिक को हम 'चय' या समान वृध्दि कहते हैं। सब चयों को मिलाकर 'चयधन' कहते हैं। जो यहाँ १ + २+ ३ = ६ है। १६२ संख्या के चार खण्ड करने के लिये सर्वप्रथम उसमें से 'चयधन' बाद करेंगे। १६२ - ६ = १५६ अब इनके चार समान खण्ड करेंगे तो १५६ ÷ ४ = ३९ होंगे।

उसमें चय मिलानेपर पहले समय के चार खण्ड इसप्रकार होंगे - ३९, ४०, ४१, ४२। इसका तात्पर्य यह हुआ कि १ से ३९ तक भिन्न भिन्न परिणामों का एक खण्ड या ग्रुप है। ४० से ७९ तक भिन्न भिन्न परिणामों के द्वितीय खण्ड में कुल ४० परिणाम हैं। तृतीय खण्ड में ८० से १२० तक कुल ४१ परिणाम हैं और चतुर्थ खण्ड में १२१ से १६२ तक कुल ४२ परिणाम हैं। इसतरह पहले समय में कुल १६२ परिणाम हो सकते हैं। उसमें चार खण्ड हैं। पहले परिणाम को प्रथम समय के प्रथम खण्ड का जघन्य परिणाम कहते हैं और ३९ वें परिणाम को प्रथम समय के प्रथम खण्ड का उत्कृष्ट परिणाम कहते हैं और २ रे से ३८ वें परिणाम तक सभी प्रथम खण्ड के मध्यम परिणाम कहलाते हैं। प्रत्येक खण्ड के जघन्य परिणाम से उसी खण्ड का उत्कृष्ट परिणाम अनंत गुणा विशुद्ध होता है।

उसी प्रकार ४० वां परिणाम प्रथम समय के द्वितीय खण्ड का जघन्य परिणाम है, ७९ वां परिणाम प्रथम समय के द्वितीय खण्ड का उत्कृष्ट परिणाम है तथा ४१ वें से ७८ वें परिणाम तक सब परिणाम मध्यम हैं। इसी तरह तीसरे और चौथे खण्ड के परिणामों को जानना। १६२ वां परिणाम प्रथम समय के चतुर्थ खण्ड का उत्कृष्ट परिणाम है या पहले समय का सर्वोत्कृष्ट परिणाम है।

यह ध्यान में रखना कि भिन्न भिन्न जीवों के ये भिन्न भिन्न परिणाम हैं। १ ले परिणाम से २ रा परिणाम अधिक विशुध्द, उससे तीसरा अधिक विशुध्द है। १ले परिणाम से ३९ वा परिणाम अनंत गुणा विशुद्ध है। ३९ वें परिणाम से ४० वां परिणाम अनंत गुणा विशुध्द है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले खण्ड के उत्कृष्ट परिणाम से दूसरे खण्ड का जघन्य परिणाम अनंत गुणा विशुध्द है।

यह पहले समय की बात हुयी। अब प्रत्येक जीव की द्वितीय समय में अपने अपने पूर्व समय के परिणाम की अपेक्षा विशुध्दि अनंत गुणा बढ़ेगी उसी प्रकार कुछ परिणामों की संख्या भी बढ़ जाती है। हम मानते हैं कि प्रत्येक खण्ड कि संख्या में एक की वृध्दि होती है अर्थात् प्रत्येक समय में चार चार परिणामों की वृध्दि होती है। पहले समय में हमने १६२ परिणाम देखे थे तो दूसरे समय में विशुध्दि अनंत गुणा होती है और परिणाम १६६ होते हैं।

प्रथम समय में प्रथम खण्ड के परिणाम १ से ३९ थे उनकी प्रत्येक की विशुध्दि अनंत गुणा बढ़ती है। और संख्या में भी वृध्दि होकर अब उनकी विशुध्दि और संख्या ४० से ७९ के समान होती है।

देखो, प्रथम समय के द्वितीय खण्ड में जितनी विशुध्दि और संख्या थी उतनी ही विशुध्दि और संख्या द्वितीय समय के प्रथम खण्ड में होती है।

उसीप्रकार पहले समय के द्वितीय खण्ड में ४० से ७९ तक ४० परिणाम थे, उनकी विशुध्दि अनंतगुणा और संख्या एक से बढ़कर वे द्वितीय समय के द्वितीय खण्ड में ८० से १२० तक ४१ हो जाते हैं।

पहले समय के तृतीय खण्ड में ८० से १२० तक के ४१ परिणाम थे उनकी विशुध्दि और संख्या बढ़कर दूसरे समय के तृतीय खण्ड में १२१ से १६२ तक ४२ हो जाते हैं।

पहले समय के चतुर्थ खण्ड में १२१ से १६२ तक के ४२ परिणाम थे उनकी विशुध्दि और संख्या बढ़कर दूसरे समय के चतुर्थ खण्ड में १६३ से २०५ तक ४३ परिणाम हो जाते हैं। इसतरह दूसरे समय के कुल परिणाम ४०+४१+४२+४३= १६६ हो जाते हैं।

उन्हें निम्नप्रकार लिखेंगे। प्रथम समय नीचे लिखते हैं और द्वितीय समय उसके ऊपर लिखते हैं। इसलिए इसे नीचे से ऊपर की ओर पढ़ना।

२रा	१६६	४०	४१	४२	४३
		(४० से ७९)	(८० से १२०)	(१२१ से १६२)	(१६३ से २०५)
१ ला	१६२	३९	४०	४१	४२
		(१से ३९)	(४० से ७९)	(८० ते १२०)	(१२१ से १६२)
समय	कुल परिणाम	प्रथम खण्ड	द्वितीय खण्ड	तृतीय खण्ड	चतुर्थ खण्ड

तीसरे समय में भी परिणामों की विशुध्दि तो अनंत गुणा बढ़ती है और संख्या समान वृध्दि से - समान चय से बढ़ती है। चय अर्थात् Difference। पहले समय में हमने १६२ परिणाम माने थे, दूसरे समय में ४ से वृध्दि होकर उनकी संख्या १६६ होती है, तीसरे समय में और ४ से वृध्दि होकर उनकी संख्या १७० होती है। एक एक समय के कुल परिणामों की संख्या में ४ से वृध्दि होती है तथा प्रत्येक खण्ड के परिणामों में एक से वृध्दि होती है। अधःकरण के हमनें १६ समय माने थे। उसमें प्रत्येक समय के परिणामों की संख्या क्रमशः- १६२, १६६, १७०, १७४, १७८, १८२, १८६, १९०, १९४, १९८, २०२, २०६, २१०, २१४, २१८, और २२२ होगी तथा इन सबको मिलाकर अधःकरण के कुल परिणाम ३०७२ होंगे। इन सोलह समयों के परिणाम तथा खण्ड निम्न प्रकार कोष्टक द्वारा देखते हैं।

अब इस कोष्टक को गौर से देखोगी तो यह बात ख्याल में आयेगी कि ३९ परिणाम तो केवल पहले समय में ही हैं। उसीतरह १६ वें समय के चतुर्थ खण्ड के ५७ परिणाम अन्य कहीं भी नही हैं। ४० परिणाम पहले और दूसरे समय में समान हैं। ४१ परिणाम १ ले, २ रे, ३ रे समय में समान हैं तथा ४२ परिणाम १ ले, २ रे, ३ रे तथा ४ थे समय में समान हैं। परिणामों की यह समानता चार समयों तक ही पायी जाती है। जैसे, ४८ परिणाम ७वें, ८वें, ९वें और १० वें समयो में समान हैं। जितने समयों तक परिणामों में समानता हो सकती है उतने समयों को निर्वर्गणा कांडक कहते हैं। जो यहाँ ४ है। हम प्रत्येक समय के परिणामों में उतने ही खण्ड करते हैं। एक एक समय के परिणाम खण्डों को वर्गणाकांडक कहते हैं। वर्गणा समय की समानता को कहते हैं, उससे रहित ऊपर समयवर्ती परिणाम खण्डों का कांडक निर्वर्गणाकांडक है।

एक समय के खण्ड हम आड़ी पंक्ति में लिखते हैं । उन चार खण्डों को तिर्यक् गच्छ कहते हैं और अधःकरण के १६ समय एक के ऊपर एक लिखते हैं तो १६ को ऊर्ध्वगच्छ कहते हैं।

१६	२२२	५४ (६९१ से ७४४)	५५ (७४५ से ७९९)	५६ (८०० से ८५५)	५७ (८५६ से ९१२)
१५	२१८	५३ (६३८ से ६९०)	५४	५५	५६
१४	२१८	५२ (५८६ से ६३७)	५३	५४	५५
१३	२१०	५१ (५३५ से ५८५)	५२	५३	५४
१२	२०६	५० (४८५ से ५३४)	५१	५२	५३
११	२०२	४९ (४३६ से ४८४)	५०	५१	५२
१०	१९८	४८ (३८८ से ४३५)	४९	५०	५१
९	१९४	४७ (३४१ से ३८७)	४८	४९	५०
८	१९०	४६ (२९५ से ३४०)	४७	४८	४९
७	१८६	४५ (२५० से २९४)	४६	४७	४८
६	१८२	४४ (२०६ से २४९)	४५	४६	४७
५	१७८	४३ (१६३ से २०५)	४४	४५	४६
४	१७४	४२ (१२१ से १६२)	४३	४४	४५
३	१७०	४१ (८० से १२०)	४२	४३	४४
२	१६६	४० (४० से ७९)	४१	४२	४३
१	१६२	३९ (१ से ३९)	४०	४१	४२
समय	परिणाम पुंज	प्रथम खण्ड	द्वितीय खण्ड	तृतीय खण्ड	चतुर्थ खण्ड

मूल ग्रंथ पढ़ने में आसानी हो इसलिए ये शब्द मैं यहाँ लिख रही हूँ। गत नौ सालों में हमने सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के सर्व भाग तथा अर्थसंदृष्टि अधिकार का अनेक बार अभ्यास किया, मैंने उसे पढ़ाया भी परंतु अपनी मंदबुध्दि से उसका अर्थ स्पष्ट होते होते बहुत कठिनाई पड़ी थी। मैं नहीं चाहती कि उसी कठिनता के कारण तुम ग्रंथों का पढ़ना ही कहीं छोड़ दो! इसलिए कई शब्द जान बूझकर बता रही हूँ।

यहाँ अंकसंदृष्टि में १ से ३९ तक के परिणाम अधिकाधिक विशुद्ध होते हैं ऐसा कहा है परंतु यथार्थ में एक एक खण्ड के परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं और उनमें षट्स्थानपतितवृद्धि के असंख्यात लोकप्रमाण स्थान होते हैं। यह विषय लिखकर समझाना कठिन है, इसलिए उसकी चर्चा यहाँ नहीं करूंगी। तुम्हें जिज्ञासा हो तो, अभी अभी ज्ञानमार्गणा में मैंने यह विषय विस्तार से समझाया है उसकी केसेट्स सुन लेना।

नीचे के तथा ऊपर के समयों के परिणामों की विशुध्दि तथा संख्या में समानता हो सकती है, इसे ही अनुकृष्टि रचना कहते हैं। ध्यान रखना यह समानता भिन्न भिन्न अर्थात् नाना जीवों की अपेक्षा बतायी गयी है। एक ही जीव की अपेक्षा तो प्रतिसमय विशुध्दि अनंतगुणा बढ़ती जाती है। तथा एक जीव का प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है।

अधःप्रवृत्तकरण में हमने चार आवश्यक देखे थे।

(१) समय समय प्रति अनंत गुणा विशुध्दि - जीव के पहले समय से दूसरे समये में विशुध्दि अनंतगुणा बढ़ती है, तीसरे समय में उससे भी अनंत गुणा, इसतरह अंतर्मुहूर्त काल तक विशुध्दि प्रतिसमय अनंत गुणा बढ़ती जाती है।

(२) स्थितिबंधापसरण - इसका स्वरूप तो हमने प्रायोग्यलब्धि में देखा था। परंतु यहाँ अन्य घटते प्रमाण को लिये नया स्थितिबंध होता है। यह स्थितिबंध घटता जाता है और ऐसे हजारों स्थितिबंधापसरण होते हैं। स्थितिबंध में हर बार पल्य के संख्यातवां भाग इतनी घट होती है। इसके कारण

अधःकरण के प्रारंभ में जितना स्थितिबंध होता था उसके संख्यातवां भाग इतना स्थितिबंध उसके अंत में होने लगता है।

जो जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके पहले से पांचवें गुणस्थान में जाता है उसके इससे भी संख्यातवां भाग इतना स्थितिबंध होता है। जो जीव पहले से सातवें गुणस्थान में जाता है उसका स्थितिबंध उससे भी संख्यातवां भाग रह जाता है।

(३) प्रशस्त प्रकृतियों में अनंत गुणा बढ़ता ऐसा चतुःस्थानगत अनुभाग बंध होता है। स्थितिबंध तो सातों ही प्रकृतियों में घटता है परंतु अनुभाग बंध प्रशस्त में बढ़ता है तो अप्रशस्त में घटता है। प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग अपेक्षा चार प्रकार बताये थे, याद है? गुड़, खांड़, शर्करा और अमृत नाम के स्पर्धक हैं। अधःप्रवृत्तकरण की बढ़ती हुयी विशुध्दि के कारण यहाँ प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रतिसमय अनंत गुणा बढ़ता हुआ बंधता है, जिसमें चारों प्रकार के स्पर्धक पाये जाते हैं।

(४) अप्रशस्त प्रकृतियों में अनंत गुणा घटता अनुभागबंध होता है, वह भी द्विस्थानगत होता है - लता और दारु भागरूप होता है।

अधःप्रवृत्तकरण के पश्चात् अपूर्वकरण के परिणाम होते हैं। उसकी चर्चा हम आगामी पत्र में करेंगे।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

करणलब्धि - अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण

पत्रांक १० २४ अक्तूबर, २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

पूर्व पत्रसंबंधी तुम दोनों की प्रतिक्रिया पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुयी। तुमने लिखा है कि, 'अधःप्रवृत्तकरण की बढ़ती हुयी विशुध्दि के समान हमारी जिज्ञासा भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। अब अपूर्वकरणसंबंधी अपूर्व बातें जानने के लिये हम उत्सुक हैं।'

यह उचित ही है। आत्मार्थी जीवों को चारों अनुयोगों के अभ्यास की रुचि होती है। करणानुयोगसंबंधी अरुचि जिनवाणी प्रति अरुचिभाव दर्शाती है। इस 'पंचलब्धि' विषय पर मैंने अभी तक चार बार कक्षायें ली है, दो बार देवलाली में तथा दो बार जयपूर शिबिर में। ब्र. पं. यशपालजी जैन तथा शिबिरों के निर्देशकों एवं आयोजकों की प्रेरणा से तथा लोगों की करणानुयोग सीखने की तीव्र भावना के कारण ही मैं यह साहस करने के लिये तैयार हुयी थी।

अनेक लोगों के मन में सवाल उठता है कि, 'करणानुयोग की इतनी सूक्ष्म बातें जाने बिना भी सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है तो इसमें क्यों उलझना? सिर्फ द्रव्यानुयोग के अभ्यास से हम सम्यक्त्व प्राप्त कर लेंगे।'

सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना तो हमारा आद्य कर्तव्य है। द्रव्यानुयोग तो कार्यकारी है ही। परंतु करणानुयोग के सूक्ष्म वर्णन से द्रव्यानुयोग के सिध्दांतों को पुष्टि मिलती है, हमारे ज्ञान, श्रध्दान में दृढ़ता आती है। हमें मोक्षमार्ग और मोक्ष की रुचि है, अपने शुध्दात्मा की रुचि है तो उसके संबंध में सर्वांगीण जानकारी हासिल करने में भी उतनी ही रुचि हो जाती है।

पहले देखा था कि जिसे क्रिकेट में रुचि है उसे कौन जीता इतना मात्र जानने से समाधान नहीं होता, उसे तो पूरी मैच देखने में रस आता है - उसमें उसे रुचि रहती है। वहाँ उसे यह सवाल नहीं उठता कि, 'पूरा दिन बरबाद

करने की क्या आवश्यकता है? मैं नहीं भी देखूँ तो हार जीत तो जो होनी है वह होगी ही।' करणानुयोग पढ़नेसंबंधी उसे यह सवाल उठता है तो उसकी रुचि अभी अन्यत्र है समझना।

आज हम अपूर्वकरणसंबंधी चर्चा करेंगे।

यहाँ भी परिणामों की विशुध्दि प्रतिसमय अनंत गुणा बढ़ती ही रहती है, उसकारण अपूर्व - अपूर्व परिणाम होते हैं। नीचे के और ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम कभी भी सदृश नहीं हो सकते अर्थात् यहाँ अनुकृष्टि रचना नहीं होती। भिन्न समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम भिन्न ही होते हैं एक सदृश नहीं होते। परंतु एक ही समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश अर्थात् समान हो सकते हैं अथवा असदृश अर्थात् असमान भी हो सकते हैं।

एक ही समय में त्रिकालवर्ती अनंत जीवों की अपेक्षा जघन्य से उत्कृष्ट तक अनेक प्रकार की विशुध्दि संभवती है। अधःप्रवृत्तकरण के अंत समय में जितने भिन्न भिन्न प्रकार के परिणाम थे उनमें से एक एक परिणाम से असंख्यात लोक प्रमाण भेदों की उत्पत्ति होती है।

इसकारण अधःप्रवृत्तकरण में असंख्यात लोकप्रमाण $\equiv\!\!\!\!\!\!\backslash$ परिणाम होते हैं, तो अपूर्वकरण में सर्व परिणाम असंख्यात लोक ×असंख्यात लोक अर्थात् $\equiv\!\!\!\!\!\!\backslash \equiv\!\!\!\!\!\!\backslash$होते हैं।

प्रथम समय में परिणामों के जघन्य से उत्कृष्ट तक अनेक भेद पाये जाते हैं, उसमें जघन्य विशुध्दि से उत्कृष्ट विशुध्दि अनंत गुणा होती है। प्रथम समय के परिणामों की यह विवक्षित Range होगी, मर्यादा होगी। परंतु दूसरे समय के परिणामों की जघन्य विशुध्दि भी प्रथम समय के उत्कृष्ट विशुध्दि से अनंत गुणा होती है। उससे अनंत गुणा द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुध्दि होती है। दूसरे समय के परिणामों की अपनी विवक्षित Range होती है। द्वितीय समय के परिणाम प्रथम समय के किसी भी परिणाम से मिलते नहीं है, अपूर्व अपूर्व ही होते हैं। इसी तरह प्रतिसमय के परिणामों की विशुध्दि अनंत गुणा - अनंत गुणा होती जाती है।

यह तो विशुध्दि की बात हुयी। प्रतिसमय के परिणामों की संख्या का विचार करेंगे तो प्रथम समय के परिणामों की संख्या में एक 'चय' प्रमाण संख्या बढ़कर द्वितीय समय के परिणामों की संख्या आती है। उसमें एक चय मिलानेपर तीसरे समय के परिणामों की संख्या आती है। इसीतरह प्रतिसमय एक एक चय बढ़ता जाता है। हम इसे अंकसंदृष्टि द्वारा समझेंगे अर्थात् काल्पनिक संख्या द्वारा समझेंगे। मान लो, पहले समय में ४५६ परिणाम होते हैं अर्थात् जघन्य विशुध्दिवाला पहला परिणाम और उत्कृष्ट विशुध्दिवाला ४५६ वां परिणाम है।उनके बीचवाले मध्यम परिणाम हैं।

दूसरे समय में विशुध्दि तो पूर्व परिणाम से अनंतगुणा होती है परंतु परिणामों की संख्या १६ से बढ़कर ४७२ परिणाम होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में १ से ४५६ परिणाम हैं तो दूसरे समय में ४५७ से ९२८ तक कुल ४७२ परिणाम होते हैं। पहले समय का ४५६ वां उत्कृष्ट परिणाम है, उससे भी दूसरे समय का ४५७ वां जघन्य परिणाम अनंत गुणा विशुध्द है। ४५७ वें परिणाम से दूसरे समय का ९२८ वां उत्कृष्ट परिणाम अनंत गुणा विशुध्द है।

हमने अधःप्रवृत्तकरण में देखा था कि पहले समय में १६२ परिणाम थे और दूसरे समय में १६६ परिणाम थे परंतु वहाँ अनेक परिणाम दोनों समयों में समान थे। ४० वें परिणाम से लेकर १६२ वें परिणाम तक के परिणाम दोनों में समान थे। वैसी समानता यहाँ अपूर्वकरण में नहीं पायी जाती।

१ से ४५६ का कोई भी परिणाम दूसरे समय में नहीं पाया जाता। दूसरे समय के सभी परिणाम अपूर्व ही होते हैं, पूर्व समय में किसी भी जीव के नहीं पाये जाते।

दूसरे समय के ४५७ से ९२८ तक के ४७२ परिणामों में चय १६ बढ़कर तीसरे समय में ४८८ परिणाम होते हैं वे ९२९ से १४१६ तक होते हैं।

इसे भी हम कोष्टक यानि आकृति द्वारा समझेंगे। हमने पहले देखा था कि अपूर्वकरण का काल एक अंतर्मुहूर्त होता है, परंतु वह अधःप्रवृत्तकरण के

अंतर्मुहूर्त काल के संख्यातवां भाग प्रमाण होता है। हम मान लेते हैं कि उससे आधा अर्थात् आठ समय का है। तथा अपूर्वकरण के सभी परिणाम ४०९६ हैं। प्रत्येक समय में जघन्य से उत्कृष्ट तक कितने परिणाम होते हैं उसे निम्न आकृति द्वारा समझेंगे।

समय	कुल परिणाम	जघन्य परिणाम		उत्कृष्ट परिणाम
८	५६८	३५२९	से	४०९६
७	५५२	२९७७	से	३५२८
६	५३६	२४४१	से	२९७६
५	५२०	१९२१	से	२४४०
४	५०४	१४१७	से	१९२०
३	४८८	९२९	से	१४१६
२	४७२	४५७	से	९२८
१	४५६	१	से	४५६

प्रत्येक समय की विशुध्दि इसप्रकार है -

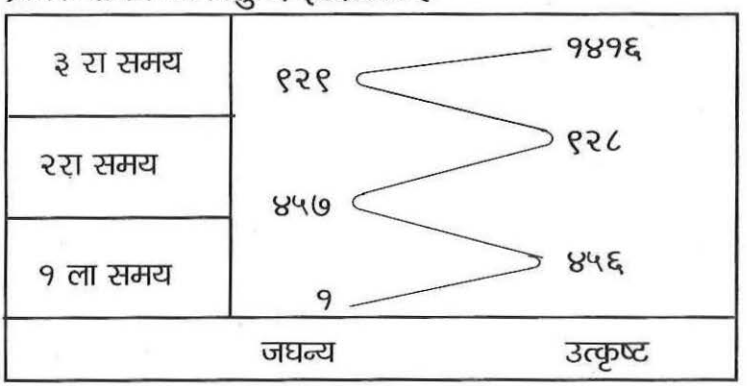

ऊपर दिखाये अनुसार विवक्षित समयवर्ती जघन्य विशुध्दि से उसी समय की उत्कृष्ट विशुध्दि अनंतगुणा होती है और उस उत्कृष्ट विशुध्दि से अनंतर समय की जघन्य विशुध्दि अनंत गुणा होती है। इसे 'सर्प की चालवत्' कहते हैं।

अब यहाँ जो चार आवश्यक होते हैं, उसका स्वरूप देखते हैं। यह बात समझ लो कि अधःप्रवृत्तकरण में बताये हुये चार आवश्यक तो यहाँ भी होते हैं, उनके साथ साथ और भी चार बातें होती हैं उनकी अब चर्चा करते हैं। उनके नाम तो हमने पहले ही देखे थे - गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडकघात (स्थितिखंडन) और अनुभागकांडकघात (अनुभागखंडन)। अधःप्रवृत्तकरण के समान स्थितिबंधापसरण तो होता ही रहता है।

(१) गुणश्रेणी - श्रेणी अर्थात् पंक्ति, निषेकों की पंक्तियाँ। कर्मों की निषेक रचना में हमने आकृति द्वारा एक एक समय के एक एक निषेक को बताया था। वर्तमान समय का निषेक सबसे नीचे आड़ी रेखा द्वारा बताया जाता है। उसके ऊपर द्वितीयादि एक एक समय का निषेक एक एक आड़ी रेखा द्वारा बताया जाता है।

उसमें वर्तमान समय से लेकर एक आवली काल तक के निषेकों को 'उदयावली' कहते हैं। ऊपर के निषेकों को 'उपरितन स्थिति' कहते हैं। परिणामों की विशुध्दि के निमित्त से सत्ता में पड़े हुये कर्मों का अपकर्षण होता है अर्थात् उनकी स्थिति कम होती है। ऊपर के निषेकों के परमाणुओं की स्थिति घटने के कारण वे नीचे के निषेकों में आ मिलते हैं। यहाँ ऊपर नीचे जो बताया जाता है वह समझने के लिये बताया जाता है। कर्म कहीं कतार से खड़े नहीं हैं।

अपकर्षित किये हुये परमाणु जिन विवक्षित पंक्तिबध्द निषेकों में गुणित प्रमाण में दिये जाते हैं उतने निषेकों की 'गुणश्रेणी रचना' होती है। एक समय में जितने परमाणु गुणश्रेणी में दिये जाते हैं उनका बटवारा किसतरह होता है उसे देखते हैं। सबसे नीचे के निषेक में जितने परमाणु (द्रव्य) दिये जाते हैं उससे असंख्यात गुणा परमाणु दूसरे निषेक में दिये जाते हैं, उससे असंख्यात गुणा परमाणु तीसरे निषेक में इसतरह गुणश्रेणी के असंख्यात निषेकों में असंख्यात गुणा क्रम से दिये जाते हैं।

पूर्व के निषेकों में तो कर्म परमाणु थे ही, अब उनके साथ इतने सारे परमाणु आ मिलते हैं, जो उनके साथ साथ उदय में आ जायेंगे। मान लो एक समय में ८५ परमाणु का अपकर्षण होकर गुणश्रेणी में दिये गये। तो प्रथम निषेक में १, द्वितीय में ४, तीसरे में १६, चौथे में ६४ परमाणु दिये गये। यहाँ

हमने गुणश्रेणी ४ समयों की मान ली है तथा असंख्यात का प्रमाण भी ४ माना है। यह बात एक समय की है। दूसरे समय में उससे भी असंख्यात गुणा परमाणु अपकर्षित होते हैं। मान लेते हैं ८५ × ४ = ३४० परमाणु गुणश्रेणी में दिये जायेंगे वे भी उसी पध्दति से असंख्यात गुणा क्रम से दिये जायेंगे। प्रथम निषेक में ४, द्वितीय में १६, तीसरे में ६४ और चौथे में २५६।

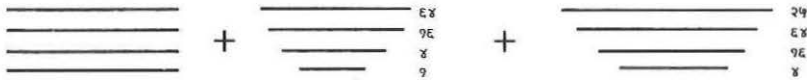

पूर्व निषेक प्रथम समय द्वितीय समय

इसी प्रकार प्रतिसमय असंख्यात गुणा क्रम से परमाणु अपकर्षित होते हैं और गुणश्रेणी में दिये जाते हैं। जब वे निषेक उदय में आयेंगे तब असंख्यात गुणा समयप्रबध्द की निर्जरा होती है, इसे गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं।

आयुकर्म को छोड़कर अन्य सात कर्मों में यह गुणश्रेणी रचना होती है। यहाँ जो गुणश्रेणी होती है वह उदयावली के निषेकों के ऊपर के निषेकों में होती है। तुम पूछोगी, 'कितने निषेकों में - अर्थात् कितने समय वाले निषेकों में यह गुणश्रेणी होती है?' उसका उत्तर यह है कि गुणश्रेणी का आयाम अर्थात् निषेकों की संख्या समयों में बताते हैं।अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण दोनों का मिलाकर जो अंतर्मुहूर्त होता है उससे थोड़ा अधिक है। उसमें जितने समय होते हैं उतने समयों में - अर्थात् उन निषेकों में यह गुणश्रेणी रचना होती है। थोड़े अधिक का जो प्रमाण है उसे गुणश्रेणी शीर्ष कहते हैं।

अपकर्षण किया हुआ द्रव्य (परमाणु) गुणश्रेणी के ऊपर के शेष निषेकों में भी दिया जाता है, जिसे उपरितन स्थिति कहते हैं परंतु यहाँ घटते हुये प्रमाण में दिया जाता है। इसे आकृति द्वारा समझते हैं।

प्रत्येक समय में कितने परमाणु अपकर्षण होकर नीचे आते हैं, उसका भी गणित है। यहाँ मैं लिखती हूँ, समझ में आये तो ठीक ही है, यदि नहीं समझे तो चिंता की बात नहीं है, प्रत्यक्ष मुलाकात में समझा दूँगी। सभी निषेकों में कुल परमाणुओं की संख्या को विवक्षित संख्या से भाग देते हैं, इसे 'अपकर्षण भागहार' कहते हैं। भाग देनेपर जो संख्या आती है उतने परमाणु का अपकर्षण होकर नीचे के निषेकों में अर्थात् उदयावली में, गुणश्रेणी में और उपरितन स्थिति में दिया जाता है। कहाँ कितना दिया जाता है उसे भी देखते हैं। इस संख्या को पल्य के असंख्यातवें भाग से भाग देकर बहुभाग उपरितन स्थिति में दिया जाता है परंतु वहाँ अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण निषेक होने से प्रति निषेक थोड़ा ही द्रव्य दिया जाता है। यहाँ सबसे ऊपर के एक आवलीप्रमाण निषेकों में अपकर्षित द्रव्य नहीं दिया जाता उसे अतिस्थापनावली कहते हैं।

गुणश्रेणी और उदयावली में एकभाग दिया जाता है। उसको असंख्यात लोक से भाग देकर बहुभाग गुणश्रेणी में दिया जाता है जो असंख्यात गुणा क्रम से दिया जाता है और शेष एक भाग उदयावली में दिया जाता है।

प्रत्येक समय में इसप्रकार से अपकर्षण होता रहता है। गुणश्रेणी में प्रतिसमय असंख्यात गुणा द्रव्य दिया जाता है। यह गुणश्रेणी विधान सातों कर्मों में होता है, आयुकर्म का तो एक समय में एक ही निषेक खिरता है उसमें गुणश्रेणी विधान नहीं होता।

अपकर्षण द्वारा स्थिति घटती है उसके साथ साथ अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग प्रतिसमय अनंत गुणा हीन हीन होकर उदय में आता है। गुणश्रेणी के ये निषेक जब उदयावली में आकर उदयरूप होंगे तब प्रतिसमय असंख्यात समयप्रबध्द निर्जरा होगी, असंख्यात गुणा निर्जरा होगी। इसे गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं।

इसीलिए छहढाला में कहा है -

'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमाँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।'

ज्ञानी की एक समय में जितनी निर्जरा होती है उतनी निर्जरा अज्ञानी के करोड़ों भवों में तप करने से भी नहीं होती। क्योंकि केवल शुभपरिणाम करने से अर्थात् शुध्दोपयोगरहित व्रत तप करने से गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती, वहाँ तो एक समयप्रबध्द इतनी ही निर्जरा होती है, जिसे स्थिति पूर्ण होनेपर होनेवाली सविपाक निर्जरा कहते हैं, और तो और वहाँ नया बंध भी होता है। अज्ञानी के संवर नहीं पाया जाता।

ज्ञानी जीवों में कुछ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होने से संवर होता है और पूर्वबध्द कर्म अधिक प्रमाण में खिरने से निर्जरा होती है।

तुम कहोगी, 'अभी तो अपूर्वकरण की बात है, अब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हुयी नहीं है, उसके पूर्व ही गुणश्रेणी निर्जरा कैसे हो सकती है?'

उसका समाधान यह है कि करण परिणाम में ज्ञानोपयोग निजशुध्दात्मा के सन्मुख ही होता है परंतु परिणति में अभी मिथ्यात्व है, क्योंकि अनिवृत्तिकरण के अंतसमय तक मिथ्यात्व का उदय रहता है। अत्यंत मंद होता हुआ अर्थात् अनुभाग प्रतिसमय अनंत गुणा हीन होता हुआ मिथ्यात्व उदय में आता है।

इस जीव को इन करण परिणामों के अनंतर समय में नियम से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है। इसलिए शुध्दोपयोग के फलस्वरूप यहाँ गुणश्रेणी निर्जरा होती है। किसी को प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गुणश्रेणी द्वारा तो असंख्यात गुणा परमाणु उदय में आते हैं तब तो मिथ्यात्व के अधिक परमाणुओं के उदय से मिथ्यात्व भी बढ़ता होगा?

वैसा नहीं है। परमाणुओं की संख्यापर उस कर्म का फल निर्भर नहीं है, परंतु उसके अनुभाग उदय से ही फल मिलता है अर्थात् उनका जीव के परिणामों के साथ निमित्तपना बनता है। यहाँ परमाणुओं की संख्या अर्थात् प्रदेश उदय बढ़नेपर भी अनुभाग उदय अत्यंत मंद होने से जीव का मिथ्यात्व परिणाम भी मंद - मंदतर होता जाता है।

अन्य अप्रशस्त कर्मों की गुणश्रेणी द्वारा भी ऐसा ही समझना।

अभी हमारा प्रकरण दर्शनमोह की उपशमना करनेवाले जीवसंबंधी चल रहा है। दर्शनमोह की क्षपणा करनेवाले तथा श्रेणी चढनेवाले जीव के भी करण परिणाम होते हैं। वहाँ होनेवाली गुणश्रेणी निर्जरा यहाँ के गुणश्रेणी निर्जरा से असंख्यात गुणा होती है अर्थात् ऊपर के गुणस्थानों में निर्जरा होनेवाले परमाणुओं की संख्या असंख्यात गुणा हो जाती है। अब गुणसंक्रमण का स्वरूप देखते हैं। यहाँ के अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण नहीं होता, उपशम सम्यक्त्व के काल में होता है। परंतु श्रेणी चढ़ते समय आदि अन्यत्र अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण होता है इसलिए उसका स्वरूप हम अभी देखते हैं।

गुणसंक्रमण - इसकी परिभाषा इसप्रकार है -

'जिन अप्रशस्त प्रकृतियों का बंध नहीं होता उन प्रकृतियों का जो द्रव्य (परमाणु) है वह प्रतिसमय असंख्यात गुणा क्रम से, जिनका बंध हो रहा है ऐसे स्वजातीय प्रकृति में संक्रमित होता है, अपना स्वरूप छोड़कर उन अन्य प्रकृतिरूप परिणमता है, इस विधान को गुणसंक्रमण कहते हैं।'

इसप्रकार प्रतिसमय असंख्यात गुणा क्रम से सजातीय अन्य प्रकृतियों में संक्रमित होना गुणसंक्रमण कहलाता है। इसतरह का गुणसंक्रमण श्रेणी चढ़ते समय अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होता है। वहाँ असातावेदनीय प्रकृति का सातावेदनीय प्रकृतिरूप संक्रमण होता है।

उसीप्रकार अनंतानुबंधी का विसंयोजन होते समय अनंतानुबंधी के सर्व परमाणु गुणसंक्रमण विधान द्वारा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन प्रकृतिरूप परिणमित हो जाते हैं। वहाँ भी करण परिणाम द्वारा यह गुणसंक्रमण होता है।

जब जीव क्षयोपशम सम्यक्त्व में से क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट करता है तब पहले तीन करण द्वारा अनंतानुबंधी का विसंयोजन करता है, उसकारण सत्ता में पड़े हुये अनंतानुबंधी के सर्व परमाणु अन्य तीन कषायकर्मरूप हो जाते हैं। उसके पश्चात् एक अंतर्मुहूर्त के बाद जीव पुनः तीन करण परिणाम मांडता है उसके कारण प्रथम मिथ्यात्व के और पश्चात् दुबारा तीन करण द्वारा

सम्यग्मिथ्यात्व के सर्व परमाणु सम्यक् प्रकृतिरूप संक्रमित होकर उन दो प्रकृतियों का सत्ता में से पूर्ण क्षय हो जाता है। वहाँ भी गुणसंक्रमण से ही वह कार्य सम्पन्न होता है।

देखो, यहाँ संक्रमण नहीं कहा अपितु गुणसंक्रमण कहा है। मात्र संक्रमण तो क्षयोपशम सम्यक्त्व के काल में भी होता है, वहाँ भी मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के परमाणु सम्यक् प्रकृतिरूप होकर उसरूप से उदय में आते रहते हैं। परंतु वहाँ संक्रमित होनेवाले परमाणुओं की संख्या अल्प होती है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में प्रारंभ में विशुध्दि की अनंतगुणा वृध्दि होती है। उसके पश्चात् के काल में विशुध्दि की मंदता के कारण अल्प परमाणु संक्रमित होते हैं उसे 'विध्यात संक्रमण' कहते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्व में विध्यात संक्रमण होता है।

एक समय में कितने परमाणु संक्रमित होते हैं उसकी संख्या निकालने के लिये सर्व परमाणुओं की संख्या को विवक्षित संख्या से भाग दिया जाता है। जब 'गुणसंक्रमण भागहार' संख्या से भाग देनेपर जो संख्या आती है उतने परमाणु संक्रमित होते हैं तब उसे गुणसंक्रमण कहते हैं।

जब 'विध्यात संक्रमण भागहार' संख्या से भाग देनेपर जो संख्या आती है उतने परमाणु संक्रमित होते हैं तब उसे विध्यात संक्रमण कहते हैं। ऐसे ही अन्य अन्य भागहार के कारण अन्य अन्य पांच प्रकार के संक्रमण संभवते हैं परंतु वह विषय यहाँ अपेक्षित नहीं है। कर्मकाण्ड के 'पंचभागहार चूलिका' प्रकरण में उसका विस्तृत वर्णन है।

इसतरह गुणसंक्रमण में प्रतिसमय असंख्यात गुणा - असंख्यात गुणा परमाणु संक्रमित होते हैं।

अपूर्वकरण के चार आवश्यकों में स्थितिकांडकघात और अनुभागकांडकघात भी होता है।

स्थितिकांडकघात - सत्ता में पड़े हुये कर्मों की स्थिति अर्थात् स्थितिसत्त्व कांडकरूप से हीन होना स्थितिकांडकघात कहलाता है। कांडक का अर्थ है

टुकड़ा - अनेक निषेकों के समूह को यहाँ कांडक कहते हैं। एक कांडक में अनेक समयों के जो निषेक हैं उनका अभाव होकर उनके सर्व परमाणु एक अंतर्मुहूर्त काल में नीचे के निषेकों में आ मिलते हैं। प्रायोग्यलब्धि के प्रकरण में हमने इसका स्वरूप देखा था। परंतु प्रायोग्यलब्धि में स्थितिकांडकघात होनेपर भी सम्यक्त्व होगा ही ऐसा नियम नहीं है।

हमने देखा था कि अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से ही स्थितिबंधापसरण होता रहता है, जिसके कारण नया होनेवाला बंध कम स्थितिवाला होता रहता है, वह भी हर अंतर्मुहूर्त में घटता जाता है। अपूर्वकरण में स्थितिबंधापसरण तो होता ही रहता है, साथ साथ हजारों स्थितिकांडकघात द्वारा स्थितिसत्त्व घटता जाता है।

स्थितिबंध अर्थात् बंधनेवाले कर्मों की स्थिति और स्थितिसत्त्व अर्थात् सत्ता में पड़े हुये कर्मों की स्थिति। यहाँ संख्यात हजार स्थितिकांडकघात होते हैं।

कांडक का प्रमाण छोटा यानि जघन्य या बड़ा यानि उत्कृष्ट तथा मध्यम हो सकता है। यह प्रमाण स्थितिसत्त्व के अनुसार होता है।

भिन्न भिन्न जीवों का स्थितिसत्त्व का प्रमाण अन्य अन्य होता है। किसी के जघन्य स्थितिसत्त्व - अंतःकोडाकोडी पल्य होता है तो किसी के उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व - अंतःकोडाकोडी सागर होता है, मध्यम भेद असंख्यात हैं। इसलिए स्थिति के अनुसार कांडक का प्रमाण भी जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट होता है।

जितने निषेकों का अभाव होता है उसे कांडक कहते हैं और उतने समयों को कांडक आयाम अर्थात् कांडक की लम्बाई कहते हैं। जघन्य स्थितिकांडक आयाम पल्य के संख्यातवां भाग प्रमाण होता है, तो उत्कृष्ट स्थितिकांडक आयाम पृथक्त्व सागर यानि सात या आठ सागर प्रमाण होता है। एक स्थितिकांडकघात होनेपर इतनी स्थिति घटती है।

एक बार स्थितिकांडकघात होता है उसे एक अंतर्मुहूर्त काल लगता है क्यों कि प्रत्येक समय में कुछ परमाणु अपकर्षित होकर नीचे के निषेकों में आ मिलते

हैं और एक अंतर्मुहूर्त में कांडक के सर्व निषेकों के सभी परमाणु नीचे आकर उन निषेकों का अभाव होता है। इस काल को स्थितिकांडकोत्करण काल कहते हैं।

यहाँ एक बात समझ लो कि ये सारे परमाणु सत्ता में ही रहते हैं, ऊपर के निषेकों में से नीचे के निषेकों में आते हैं। नीचे के निषेकों में परमाणुओं की संख्या बढ़ती चली जाती है।

पहले हमने देखा था कि स्थितिकांडकघात के साथ साथ यहाँ स्थितिबंधापसरण और अनुभागबंधापसरण होता है। स्थितिबंध घटता है, तब अंतर्मुहूर्त काल तक समान स्थितिबंध होता है, इस अंतर्मुहूर्त काल को स्थितिबंधापसरण काल कहते हैं।

स्थितिकांडकोत्करण काल और स्थितिबंधापसरण काल दोनों ही समान अंतर्मुहूर्त है। परंतु अनुभागकांडकोत्करण काल उससे अल्प है। एक स्थितिकांडकोत्करण काल में संख्यात हजार बार अनुभागकांडकघात होता है। उसका स्वरूप अब देखते हैं।

अनुभागकांडकघात - एक एक अंतर्मुहूर्त में एक एक अनुभागकांडकघात होता है, उस अंतर्मुहूर्त काल को अनुभागकांडकोत्करण काल कहते हैं। अनुभागकांडकघात द्वारा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभागसत्त्व घटता है।

पहले हमने स्पर्धकों का स्वरूप देखा था। एक एक प्रकृति में अनंत स्पर्धक पाये जाते हैं। अप्रशस्त प्रकृतियों के अनंत स्पर्धकों को अनंत का भाग देनेपर उसमें से बहुभाग स्पर्धकों का अनुभाग घटकर शेष एक भागरूप स्पर्धकों के समान हो जाता है। इसतरह अनंत बहुभाग स्पर्धकों का एक कांडक द्वारा घात होता है उसे एक अनुभागकांडकघात कहते हैं।

शेष स्पर्धकों का अनंत बहुभाग का दूसरे अनुभागकांडकघात द्वारा नाश होकर अनुभाग घटता है। इसीतरह एक एक अनुभागकांडकघात द्वारा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनंतवां भाग - अनंतवां भाग होता रहता है।

ऐसे अनुभागकांडकघात संख्यात हजार बार होते हैं उतने काल में स्थितिकांडकघात एक बार होता है और अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में ऐसे स्थितिकांडकघात संख्यात हजार बार होते हैं।

एक बात ध्यान में रखो कि अनुभागकांडकघात में सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभागकांडकघात नहीं होता, उलटा प्रति समय उनका अनुभाग अनंतगुणा बढ़ता जाता है। स्थितिकांडकघात द्वारा स्थिति तो प्रशस्त, अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के प्रकृतियों की घटती है।

इसतरह अपूर्वकरण के प्रथम समय में प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृतियों का जो अनुभागसत्त्व था उससे उसके अंत समय में प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभागसत्त्व अनंत गुणा बढ़ा हुआ तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभागसत्त्व अनंत गुणा हीन हुआ पाया जाता है।

इसतरह अपूर्वकरण का एक अंतर्मुहूर्त काल समाप्त होनेपर अनिवृत्तिकरण प्रारंभ होता है।

अनिवृत्तिकरण - ऊपर अपूर्वकरण के जो चार आवश्यक बताये थे वे यहाँ भी होते हैं अर्थात् गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात होता रहता है, स्थितिबंधापसरण भी होता रहता है। परंतु अंतर इस बात का है कि यहाँ समान समयवर्ती सभी जीवों के यानि अनिवृत्तिकरण मांडनेवाले त्रिकालवर्ती अनंत जीवों के परिणाम समान ही रहते हैं।

अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त काल में प्रतिसमय विशुध्दि तो अनंत गुणा बढ़ती जाती है परंतु प्रत्येक समय में एक एक ही परिणाम पाया जाता है। इसकारण अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त काल के जितने समय हैं उतने ही वहाँ परिणाम हैं। अब एक एक समय के परिणाम एक एक ही होने से वहाँ जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद नहीं पाये जाते। इसलिए इसका नाम अनिवृत्तिकरण है। निवृत्ति यानि परिणामों में भेद, अनिवृत्ति यानि परिणामों में भेद न होना।

यहाँ मात्र विशुध्दि की अपेक्षा ही परिणामों की समानता समझनी चाहिए। गति, लेश्या, शरीरादि का आकार, वर्ण, ज्ञान, उदयरूप कषाय आदि में भेद

होनेपर भी सभी अनंत जीवों की विशुध्दि समान ही होती है। वह विशुध्दि प्रति समय अनंतगुणा बढ़ती जाती है।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में और भी एक अंतर है। यहाँ जो स्थितिकांडकघातादि होते हैं उनमें स्थितिकांडक, अनुभागकांडक और स्थितिबंध का प्रमाण घटता है। उसका कारण यह है कि स्थितिसत्त्व उत्तरोत्तर घटते जाने से इन कांडकों तथा स्थितिबंध का प्रमाण भी उत्तरोत्तर घटता जाता है। कांडक भी छोटे छोटे होते हैं और स्थितिबंध में होनेवाली घट भी कम होती है।

अपूर्वकरण समाप्त कर जो अनिवृत्तिकरण के पहले समय में आता है तब उसका स्थितिकांडक आयाम जघन्य पल्य के असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट उससे संख्यातवां भाग अधिक होता है। पहले ही समय में उस कांडक का घात होनेपर सभी जीवों के परिणामों की विशुध्दि समान होने के कारण स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात, स्थितिबंधापसरण, गुणश्रेणी निर्जरा और गुणसंक्रमण में समानता पायी जाती हैं।

परंतु यहाँ योग के सदृशता का कोई नियम नहीं है इसलिए उनके प्रदेशबंध में समानता का नियम नहीं है।

पहले हमने देखा था कि अपूर्वकरण के काल से अनिवृत्तिकरण का काल अल्प है अर्थात् उसका संख्यातवां भाग प्रमाण है। हमने अंकसंदृष्टि द्वारा अपूर्वकरण का काल ८ समय माना था और ८ समयों के सभी परिणाम मिलकर उनकी संख्या ४०९६ मानी थी। अब यहाँ अनिवृत्तिकरण का काल ४ समय मानेंगे तो प्रत्येक समय का एक परिणाम इस हिसाब से यहाँ कुल ४ परिणाम होंगे जो क्रमशः अनंत गुणा विशुध्दिवाले होंगे।

अपूर्वकरण में होनेवाले सभी आवश्यक यहाँ भी होते रहते हैं। ज्ञानोपयोग शुध्द आत्मा में एकाग्र रहता है, फिर भी अभी परिणाम में मिथ्यात्व है, अभी मिथ्यात्व के निषेक उदय में आते रहते हैं। इसीप्रकार अनिवृत्तिकरण काल को संख्यात से भाग देकर बहुभाग बीत जानेपर अर्थात् मान लो पांच भागों में से चार भाग व्यतीत होनेपर 'अंतरकरण' होता है।

अंतरकरण - 'विवक्षित निषेकों का सर्व द्रव्य अन्य निषेकों में अर्थात् यहाँ ऊपर के तथा नीचे के निषेकों में निक्षेपण करके उन विवक्षित निषेकों का अभाव करना 'अंतरकरण' कहलाता है।' यह 'अंतर' केवल दर्शनमोहनीय कर्म में ही किया जाता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की सत्ता में दर्शनमोहनीय कर्म की एकमात्र मिथ्यात्व प्रकृति ही विद्यमान रहती है, इसलिए वहाँ मिथ्यात्व प्रकृति में अंतर किया जाता है। सादि मिथ्यादृष्टि जीव की सत्ता में जिसे दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति इन तीन की सत्ता विद्यमान है वहाँ इन तीनों प्रकृतियों में अंतर किया जाता है।

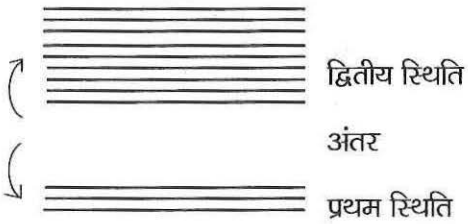

यह अंतर अनिवृत्तिकरण काल के पश्चात् उदय आनेयोग्य निषेकों में अर्थात् गुणश्रेणीशीर्ष और ऊपर के कुछ निषेकों में किया जाता है। अर्थात् उन विवक्षित निषेकों के सभी परमाणु कुछ नीचे के तथा कुछ ऊपर के निषेकों में निक्षेपित किये जाते हैं। यह कार्य अपकर्षण और उत्कर्षण द्वारा होता है। उसकारण वहाँ के निषेकों का अभाव हो जाता है। जितने निषेकों का अभाव होता है उतनी संख्या को अंतरायाम कहते हैं। इस अंतरकरण द्वारा निषेकों की एक अटूट पंक्ति टूटकर दो भागों में विभाजित हो जाती है - एक प्रथम या पूर्व स्थिति और एक द्वितीय या उपरितन स्थिति। बीच में अंतर्मुहूर्त प्रमाण अंतर पड़ जाता है। अंतर करने का यह विधान - यह कार्य एक अंतर्मुहूर्त में पूर्ण होता है उस काल को 'अंतरकरण काल' कहते हैं। एक स्थितिकांडकघात होने में जितना अल्प समय लगता है उतने ही काल में अंतरकरण होता है।

अंतरकरण द्वारा जिन निषेकों का अभाव किया जाता है उनके नीचे के निषेकों को प्रथम स्थिति कहते हैं। प्रथम स्थिति के निषेक अनिवृत्तिकरण के शेष

काल में उदय होकर खिर जाते हैं। अंतर के ऊपर वाले निषेकों को द्वितीय स्थिति कहते हैं। वहाँ अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण निषेक हैं।

प्रथम स्थिति के मिथ्यात्व कर्म के निषेक प्रतिसमय उदय में आते हैं और वहाँ जीव के भी मिथ्यात्वभाव हो रहा है। मिथ्यात्व कर्म का उदय होता रहे और जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हो जाये यह बात कभी हो नहीं सकती।

अंतरकरण होने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण के काल में ही द्वितीय स्थितिवाले मिथ्यात्व के निषेकों का उपशम किया जाता है अर्थात् उनकी उदीरणा या उदय होकर वे जल्दी उदय में न आ सके इस योग्य किये जाते हैं।

उपशमकरण - दर्शनमोहनीय कर्म में अंतर करनेपर द्वितीय स्थितिवाले निषेक अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृति के परमाणु उदय आने के अयोग्य किये जाते हैं इसे 'उपशमकरण' कहते हैं।

जिसतरह हमने गुणसंक्रमण में देखा था कि प्रतिसमय असंख्यात गुणा द्रव्य संक्रमित होता है, उसीतरह यहाँ भी प्रतिसमय असंख्यात गुणा द्रव्य उपशमित किया जाता है - उदय या उदीरणा के अयोग्य किया जाता है।

इस उपशमविधान में अर्थात् उपशमकरण में द्वितीय स्थिति के मिथ्यात्व के परमाणुओं को 'गुणसंक्रमण भागहार' संख्या से भाग देकर जो संख्या आती है उतने परमाणु प्रतिसमय उपशमित किये जाते हैं। प्रत्येक समय में असंख्यात गुणा - असंख्यात गुणा द्रव्य उपशमित किया जाता है और इसप्रकार एक अंतर्मुहूर्त काल में द्वितीय स्थिति का सभी द्रव्य - सभी परमाणु उपशमित किये जाते हैं। इस काल को 'उपशमकरणकाल' कहते हैं।

प्रथम स्थिति में दर्शनमोहनीय कर्म के जितने निषेक हैं उतने समय तक अर्थात् अनिवृत्तिकरण के शेष काल में अंत समय तक यह उपशमविधान होता रहता है। इस काल में मिथ्यात्व कर्म की गुणश्रेणी नहीं होती परंतु आयुबिना अन्य सब कर्मों की गुणश्रेणी होती रहती है। पूर्व में जो मिथ्यात्व कर्म में गुणश्रेणी रचना हुयी थी उनका एक एक निषेक उदय में आकर खिरता रहता है।

इसतरह जब तक उपशम विधान द्वारा द्वितीय स्थिति के मिथ्यात्व द्रव्य को उपशमित करने का कार्य होता रहता है, तब तक प्रथम स्थिति के मिथ्यात्व के निषेकों का उदय होता रहता है। उपशम विधान के काल में जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता कारण उसके मिथ्यात्व का उदय है और गुणस्थान भी पहला है, जब कि सासादन में आनेवाला जीव औपशमिक सम्यक्त्व में से भ्रष्ट होकर अनंतानुबंधी के उदय से सासादन सम्यक्त्व नामक दूसरे गुणस्थान में आता है।

अनिवृत्तिकरण के अंत समय में प्रथम स्थिति का अंतिम निषेक खिर जाता है और उसके अनंतर समय में अंतरायाम है - अंतर है - वहाँ तो मिथ्यात्व का निषेक ही नहीं है इसलिए मिथ्यात्व का उदय भी नहीं रहा। द्वितीय स्थिति में मिथ्यात्व का द्रव्य सत्ता में पड़ा है परंतु वह सर्व ही उपशमित कर दिया गया है इसकारण वहाँ से छूटकर अंतरायाम के काल में उदय में आ सके यह संभावना भी नहीं रही। उनमें अपकर्षण - उत्कर्षण आदि नहीं हो सकता। इसलिए अनिवृत्तिकरण के अनंतर समय में 'अंतर' का काल प्रारंभ होते ही जीव को प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

यहाँ दर्शनमोहनीय कर्म में अंतरकरण और उपशमकरण द्वारा उपशम होता है और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में अप्रशस्त उपशम होता है। अनंतानुबंधी प्रकृति में अंतर नहीं पड़ता परंतु उनका उदय अप्रत्याख्यानादि अन्य प्रकृतिरूप से होता है।

यहाँ अनंतानुबंधी में अप्रशस्त उपशम होता है। अप्रशस्त उपशमना के द्वारा जो कर्म उपशांत होता है उसमें अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण शक्य है, केवल उदयावली में प्रविष्ट होना शक्य नहीं है।

इस रीति से अंतरायाम के पहले समय से ही दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी क्रोधादि के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग का सम्पूर्णतः उपशम होने से औपशमिक तत्त्वार्थश्रध्दानरूप सम्यक्त्व प्राप्त करके जीव प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि होता है।

अनादिकाल से प्रतिसमय मिथ्यात्व कर्म का उदय तथा जीव का मिथ्यात्व भाव चलता आया था अब उसमें रुकावट आ गयी। यहाँ मिथ्यात्व कर्म का उदय भी नहीं रहा और जीव के मिथ्यात्व भाव भी नहीं रहा, अपितु सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। अब उपयोग भी शुध्द है और परिणति भी शुध्द है। उपयोग अर्थात् जानन क्रिया का झुकाव और परिणति अर्थात् श्रध्दा - अभिप्राय - प्रतीति।

करण परिणाम में उपयोग की शुध्दता के कारण अर्थात् निजशुध्दात्मा को अपने ज्ञान का विषय बनाकर उसी को जानते रहने से सहजरूप से परिणति में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है - सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है, अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति होती है।

जयसेनाचार्य की भाषा में कहना हो तो निजशुध्दात्मभावनारूप सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से निर्विकल्प निजशुध्दात्मानुभूति प्राप्त होती है। यहाँ पूर्व पर्याय का ज्ञान करवाया है। ज्ञान अपने निजशुध्दात्मा को जानने में एकाग्र होता है तब उसे भेदरहित अखंड आत्मा तथा रागरहित आत्मा का अनुभव होता है। यहाँ भावना का अर्थ एकाग्रता है, 'सविकल्प' यह ज्ञान का विशेषण है और 'निर्विकल्प' यह भेदरहित अभेद निजशुध्दात्मा तथा रागरहित शुध्दोपयोग का सूचक है।

अब प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में क्या बातें बनती हैं उसकी चर्चा आगामी पत्र द्वारा करेंगे।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ

प्रथमोपशम सम्यक्त्व

पत्रांक ११ ४ नवम्बर, २००२

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

अनादिकाल से अपने मिथ्यात्व परिणाम के कारण यह जीव जन्म मरण रूपी संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है। जब विशिष्ट योग्यतावाला जीव जिनेन्द्रकथित तत्त्वों का उपदेश ग्रहण करके तत्त्वनिर्णय और तत्त्वविचार करता है तब पांच लब्धिपूर्वक उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

जीव के वृध्दिंगत विशुध्द परिणामों के निमित्त से कर्मों में भी जो परिवर्तन होते हैं उनकी हमने चर्चा की। अनिवृत्तिकरण के अनंतर समय में जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। परिणामों की विशुध्दि के कारण यहाँ भी जो विशेष बातें बनती हैं उसकी हम चर्चा करेंगे।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से ही द्वितीय स्थिति में उपशमित किये हुये मिथ्यात्व प्रकृति का गुणसंक्रमण प्रारंभ होता है। दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति का द्रव्य (परमाणु) प्रतिसमय असंख्यात गुणा क्रम से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप से परिणमता है। परंतु अब मिथ्यात्व की गुणश्रेणी नहीं होती तथा उसका स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात भी नहीं होता परंतु ज्ञानावरणादि अन्य कर्मों में यह सब होता है। यहाँ मिथ्यात्व का उदय भी नहीं है और बंध भी नहीं है।

पूर्व में मिथ्यात्व का जो अनुभाग था उसके हजारों अनुभागकांडकघात द्वारा अनंतवां भाग अनुभाग शेष रहता है। उसमें से कुछ परमाणुओं का अनुभाग उससे भी अनंतवां भाग होता है जिसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं और उससे भी जिन परमाणुओं का अनुभाग अनंतवां भाग रहता है वे सम्यक् प्रकृतिरूप होते हैं।

इसतरह मिथ्यात्व का अनुभाग अनंत गुणा हीन होकर एक मिथ्यात्व प्रकृति में से तीन प्रकृति बनती हैं - मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्

प्रकृति। इसे ही कहते हैं कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं।

इनमें अनुभाग तो क्रमशः अनंतवां भाग - अनंतवां भाग होता है परंतु इनके परमाणु की संख्या क्रमशः असंख्यातवां भाग - असंख्यातवां भाग हो जाती है।

इसतरह संख्या अपेक्षा -

मिथ्यात्व के द्रव्य से सम्यग्मिथ्यात्व का द्रव्य असंख्यातवां भाग और सम्यक् प्रकृति का द्रव्य उससे भी असंख्यातवां भाग होता है।

तथा अनुभाग अपेक्षा -

मिथ्यात्व का अनुभाग पूर्व अनुभाग के अनंतवें भाग हो जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग उससे भी अनंतवें भाग होता है और सम्यक् प्रकृति का अनुभाग उससे भी अनंतवें भाग प्रमाण होता है।

प्रथम समय से लेकर एक अंतर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व का गुणसंक्रमण होता है। प्रतिसमय असंख्यात गुणा परमाणु संक्रमित होते हैं।

पहले समय में मिथ्यात्व के कुछ परमाणु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप परिणमित होते हैं, वहाँ सम्यक् प्रकृति के द्रव्य से सम्यग्मिथ्यात्व का द्रव्य असंख्यात गुणा है।

दूसरे समय में मिथ्यात्व का द्रव्य जो पहले समय से असंख्यात गुणा है, उन दो प्रकृतिरूप होता है। इसकारण पहले समय के सम्यग्मिथ्यात्व के द्रव्य से दूसरे समय का सम्यक् प्रकृति का द्रव्य असंख्यात गुणा होता है और उससे दूसरे समय का सम्यग्मिथ्यात्व का द्रव्य असंख्यात गुणा होता है। उससे तीसरे समय का सम्यक् प्रकृति का द्रव्य असंख्यात गुणा होता है और उससे तीसरे ही समय का सम्यग्मिथ्यात्व का द्रव्य असंख्यात गुणा होता है। इसीप्रकार अंतर्मुहूर्त काल तक - गुणसंक्रमण के काल तक सर्प की चालवत् असंख्यात

गुणा क्रम होता रहता है। हम इसे अंकसंदृष्टि द्वारा देखते हैं। असंख्यात के लिये सहनानी (चिन्ह) ४ का अंक मानकर निम्न प्रकार समझाते हैं।

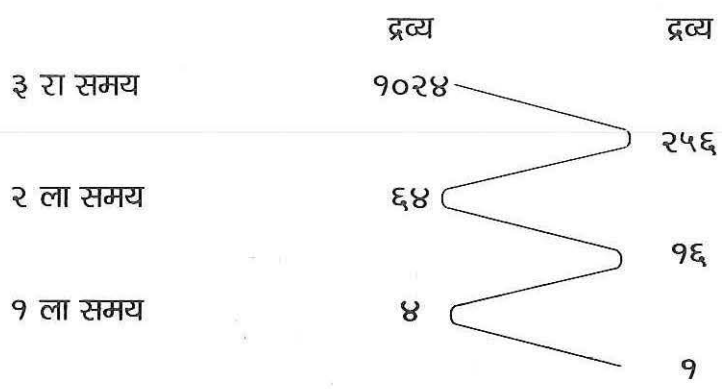

गुणसंक्रमण का काल समाप्त होनेपर यह संक्रमण अल्प प्रमाण में होता रहता है, उसे विध्यात संक्रमण कहते हैं। विध्यात अर्थात् मंद। यहाँ विशुध्दि मंद होने से अल्प परमाणुओं का संक्रमण होता है।

इसतरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके कोई जीव १ ले मिथ्यात्व गुणस्थान से ४ थे असंयत गुणस्थान में, कोई ५ वें देशसंयत गुणस्थान में तो कोई ७ वें अप्रमत्त गुणस्थान में जाते हैं। ५ वें और ७ वें गुणस्थान में जानेवाले का स्थितिसत्त्व ४ थे गुणस्थान में जानेवाले के स्थितिसत्त्व के संख्यातवां भाग - संख्यातवां भागप्रमाण रहता है। क्योंकि उनकी विशुध्दि अधिक होती है।

४ थे गुणस्थान में जानेवाला जीव मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबंधी चौकडी का अप्रशस्त उपशम करता है, ५ वें में जानेवाला दो कषाय चौकडी का अप्रशस्त उपशम करता है, तो ७ वें में जानेवाला जीव तीन कषाय चौकडी का अप्रशस्त उपशम करता है। उनके अनुदय में जीव की मंदकषायरूप विशुध्दि बढ़ती है और उसकारण स्थितिसत्त्व अधिक प्रमाण में घटता है तथा गुणश्रेणी निर्जरा भी असंख्यात गुणा होती है। ७ वें गुणस्थान में जानेवाला जीव ४ थे, ५वें गुणस्थान में होकर ऊपर चढ़ता है यह मान्यता ठीक नहीं है यह बात इन कर्मों की अवस्थाओं से सिध्द होती है। उसीप्रकार मिथ्यात्व अवस्था में द्रव्यलिंग धारण करने मात्र से उसके सम्यक्त्व के साथ ७ वां गुणस्थान ही प्रकट होता

है यह बात भी सिध्द नहीं होती। तुम्हें पता ही है कि पांचवें गुणस्थान में जानेवाला जीव द्रव्यलिंगी श्रावक होना आवश्यक है तथा सातवें गुणस्थान में जानेवाला जीव द्रव्यलिंगी मुनि होना आवश्यक है। क्योंकि यथोचित द्रव्यलिंग बिना भावलिंग प्रकट नहीं होता।

अब प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में क्या विशेषतायें होती हैं उसे देखते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में मरण नहीं होता यह नियम है। यहाँ दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी का उपशम होने से उदय भी नहीं है तथा बंध भी रुक जाता है। परंतु आयुबिना ज्ञानावरणादि शेष प्रकृतियों की गुणश्रेणी, स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात होता रहता है उसके फलस्वरूप उन कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होती है।

४ थे गुणस्थानवाले से ५ वें और ७ वें गुणस्थानवाले की निर्जरा अधिक होती है क्योंकि उनकी विशुध्दि अधिक होती है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से ही संवर और निर्जरा प्रारंभ होते हैं। प्रायोग्यलब्धि में ही कितनी ही प्रकृतियों का प्रकृतिबंधापसरण हुआ था वह यहाँ भी चालू रहता है उनके साथ साथ प्रथम और द्वितीय गुणस्थान में जिनके बंध की व्युच्छित्ति होती है वे सभी प्रकृतियों का बंध रुक जाता है - उनका संवर होता है। ५ वें तथा ७ वें गुणस्थान में जानेवाले जीवों की अन्य भी प्रकृतियों के बंध की व्युच्छित्ति होती है उसे बाद में देखेंगे।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त काल में से अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय शेष रहनेपर अनंतानुबंधी क्रोध, मान,माया, लोभ में से किसी एक का उदय होने से जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होता है और २ रे सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है और वहाँ से गिरकर मिथ्यात्व में जाता है।

उपशम सम्यक्त्व का काल पूरा होनेपर नियम से दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति में से किसी एक का उदय होता है। वह किसतरह होता है, इसे आकृति द्वारा समझेंगे।

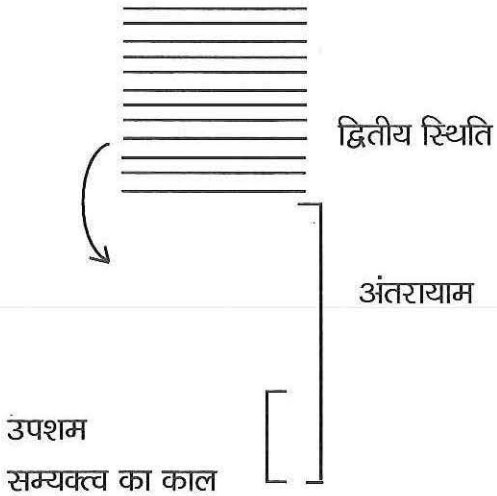

उपशम सम्यक्त्व के काल में द्वितीय स्थिति में दर्शनमोहनीय के तीन टुकड़े होते हैं। उपशम सम्यक्त्व के काल में उनमें से किसी का अपकर्षण द्वारा उदय, उदीरणा संभव नहीं है।

उपशम सम्यक्त्व का काल पूरा होने तक अंतरायाम में दर्शनमोहनीय के निषेकों का अभाव रहता है। परंतु सम्यक्त्व का काल पूर्ण होते ही द्वितीय स्थिति के तीनों प्रकृतियों के परमाणु, अपकर्षण द्वारा अंतरायाम में आते हैं और अंतर को भर देते हैं - वहाँ निषेक रचना होती है अर्थात् 'अंतरपूरण' करते हैं। उपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होनेपर अंतरायाम में कोई निषेक है नहीं, उसके पश्चात् द्वितीय स्थिति में से अपकर्षण द्वारा नीचे आकर उनका उदय होता है।

इससे यह बात सिध्द होती है कि दर्शनमोहनीय की प्रकृति के उदय के कारण उपशम सम्यक्त्व नहीं छूटता, परंतु उपशम का काल अंतर्मुहूर्त ही होता है उसके पश्चात् उपशम छूट जाता है परंतु सम्यक्त्व छूटने का नियम नहीं है।

उन तीन प्रकृतियों में से जीव के परिणाम के निमित्त से जो प्रकृति उदयरूप होती है वह तो उदयावली में आती है और अन्य दो प्रकृति उदयावली के ऊपर ही रहती हैं और उदयरूप प्रकृति में संक्रमित होकर उसरूप उदय में आती है।

इसप्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होनेपर -

(1) मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव पुनश्च पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है। अथवा

(2) सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से जीव ३ रे सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान को प्राप्त होता है। अथवा

(3) सम्यक् प्रकृति के उदय से जीव क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि अर्थात् वेदक सम्यग्दृष्टि होता है, उसका सम्यक्त्व तथा विवक्षित गुणस्थान कायम रहता है।

इसप्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव नियम से मिथ्यात्व में जाता ही है इस मान्यता का निराकरण होता है। कषायपाहुड, धवला, लब्धिसार, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ग्रंथों में इसका वर्णन है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्व की बात हो रही है।

'धवला' ग्रंथ में इन प्रथमोपशम सम्यक्त्वी जीवों में ही दो भेद बताये हैं - प्रथम सम्यक्त्वी और अप्रथम सम्यक्त्वी। वहाँ कहते हैं कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब उपशम सम्यक्त्व का काल पूरा होनेपर नियम से मिथ्यात्व में जाता है परंतु अप्रथम बार यानि द्वितीयादि बार प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसके लिये ऊपर बताये हुये तीन मार्ग खुले हैं - उसके लिये मिथ्यात्व में जाने का नियम नहीं है।

तुम कहोगी, 'एक बार सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर पुनः पुनः सम्यक्त्व होने की बात कैसे कर रही हो?'

सुनो, जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पश्चात् मिथ्यात्व में जा सकता है अथवा कोई क्षयोपशम सम्यक्त्व से छूटकर मिथ्यात्व में जाता है। जब वह जीव दुबारा सम्यक्त्व प्राप्त करेगा तो कोई जीव कर्मों का क्षयोपशम करके क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करेगा या कोई जीव उनका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करेगा।

सम्यक्त्व से मिथ्यात्व और दुबारा सम्यक्त्व इसप्रकार असंख्यात बार (पल्य के असंख्यातवें भाग बार) हो सकता है। एक बार प्रथमोपशम सम्यक्त्व होनेपर दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति की सत्ता असंख्यात वर्षों तक रहती है। परंतु वह जीव मिथ्यात्व में आनेपर असंख्यात वर्ष के बाद दुबारा प्रथमोपशम कर सकता है परंतु क्षयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति तो एक अंतर्मुहूर्त पश्चात् भी कर सकता है। इसका कारण देखते हैं।

जीव मिथ्यात्व में जाता है तब इन तीन प्रकृतियों की सत्ता की स्थिति अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण रहती है। तब अन्य दो प्रकृति मिथ्यात्वरूप से उदय में आती रहती हैं और उनका एक एक निषेक खिर जाता है। नया होनेवाला बंध तो एकमात्र मिथ्यात्व का ही होता है। इसप्रकार एक एक निषेक नष्ट होते होते जब सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति की सत्तारूप स्थिति बहुत अल्प रह जाती है, तब वह जीव दुबारा इन तीनों प्रकृतियों का तथा अनंतानुबंधी का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।

बहुत अल्प यानि कितना इसका प्रमाण गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ६१५ में बताया है। वहाँ कहते हैं कि इन दो प्रकृतियों की सत्तारूप स्थिति त्रस जीवों में पृथक्त्व सागर प्रमाण शेष रहती है और एकेन्द्रियों में पल्य के असंख्यातवें भाग से हीन एक सागर शेष रहती है, तब तक के काल को वेदक योग्य काल कहते हैं। जब सत्तारूप स्थिति उससे भी कम हो जाती है तब उसे उपशमकाल कहते हैं।

वेदक योग्य काल में जीव दुबारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता, वेदक अर्थात् क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। परंतु उपशम काल में वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। इस उपशम योग्य काल में वे दो प्रकृति मिथ्यात्वरूप संक्रमित होने लगती है उसे उद्वेलना कहते हैं। पहले सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना होकर वह सत्ता में से नष्ट होती है। पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी उद्वेलना होकर नष्ट होती है। ऐसा जीव सादि मिथ्यादृष्टि होनेपर भी उसकी सत्ता में दर्शनमोहनीय की एकमात्र मिथ्यात्व प्रकृति ही शेष रहती है।

इसलिए एकबार प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके फिर मिथ्यात्व में गये हुये जीव को दुबारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने में असंख्यात करोड़ वर्षों का काल बीच में जाता है - इसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व का 'अंतर' कहते हैं।

परंतु प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में आया हुआ जीव एक अंतर्मुहूर्त के पश्चात् ही क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वह उसका वेदक योग्य काल है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बारे में जो अंतर देखा, उतना ही अंतर सासादन गुणस्थान के बारे में भी समझना। क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व में से छूटकर ही जीव सासादन में आता है, क्षयोपशम सम्यक्त्व में से छूटकर नहीं आ सकता।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर जीव पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आता है तब उसके ४१ प्रकृतियों के बंध की व्युच्छित्ति होती है। हमने देखा था कि बंधयोग्य १२० प्रकृति हैं उनमें से मोक्षमार्ग का प्रारंभ ही ४१ प्रकृतियों के बंध की व्युच्छित्ति से होता है। यहाँ व्युच्छित्ति का अर्थ देखते हैं।

'जिन प्रकृतियों का बंध विवक्षित गुणस्थान तक ही पाया जाता है, उसके ऊपर के गुणस्थानों में नहीं पाया जाता उसे उस विवक्षित गुणस्थान की बंध व्युच्छित्ति कहते हैं।'

जैसे, मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बंध मात्र पहले गुणस्थान में ही होता है, दूसरे या ऊपर के किसी भी गुणस्थान में नहीं होता इसलिए पहले गुणस्थान में १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति कहने में आती है। व्युच्छित्ति होना अर्थात् बंध का अभाव होना। परंतु पहले गुणस्थान में व्युच्छित्ति होती है कहेंगे तब उसके अंत समय तक बंध है परंतु द्वितीयादि गुणस्थानों में बंध नहीं है समझना।

तुम पूछोगी, 'वहाँ तो बंध है फिर भी वहीं पर अभाव हुआ क्यों कहते हैं? ऊपर के गुणस्थान में बंध का अभाव हुआ कहना योग्य है।'

इसे द्रव्यार्थिकनय का कथन कहते हैं। इसे दृष्टांत द्वारा समझेंगे। हम सब देवलाली में इकट्ठे हुओ थे। शिबिर के पश्चात् मोना तुम औरंगाबाद गयी और रीना तुम हमारे साथ मुंबई आ गयी। अब मुझे बताओ कि मोना और हम कहाँ बिछुड़े? उसका उत्तर होगा हम देवलाली में एक दूसरे से बिछुड़ गये थे। यदि मैं पूछूं कि देवलाली में तो हम एक साथ थे तुम वहाँ बिछुड़ने की बात कैसे कर रही हो? तब कहते हैं कि उसके पश्चात् हम एक साथ नहीं थे इसलिए वहीं पर बिछुड़ गये कहने की पध्दति है। वैसे ही जहाँ तक बंध था वहीं पर बंध की व्युच्छित्ति कहने में आती है।

पहले गुणस्थान में १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है, तो दूसरे गुणस्थान में २५ प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होती है, तीसरे गुणस्थान में बंध व्युच्छित्ति नहीं होती। इसलिए जब जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब पहले से चौथे गुणस्थान में जानेपर उसके ४१ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है - उतना संवर प्रारंभ होता है।

चौथे गुणस्थान में और १० प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होने के कारण पांचवें गुणस्थानवाले जीव के ५१ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है। पांचवें गुणस्थान में ४ प्रकृतियों की तथा छठवें गुणस्थान में ६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति है इसलिये पहले से सातवें गुणस्थान में जानेवाले जीव के ६१ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है।

तुम कहोगी, 'माँ उन प्रकृतियों के नाम तो बता, जिससे हम लाभ या नुकसान का अंदाजा लगा सकें। मान लो अच्छे कर्म प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति हो जाये, तो क्या फायदा?'

देखो, अभी भी कुछ कर्म प्रकृतियाँ अच्छी हैं, लाभदायक हैं इस मान्यता को छोड़ने की तैयारी नहीं है। फिर भी इस बात से तुम्हें खुशी होगी कि निसर्ग का ऐसा ही नियम है कि मोक्षमार्ग का प्रारंभ होते ही सर्वाधिक अप्रशस्त प्रकृतियों का बंध रुक जाता है तथा अन्य अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग - फलदान शक्ति प्रतिसमय अनंत गुणा घटती जाती है। यहाँ सारा लाभ ही लाभ है इसलिये इसे लब्धि कहते हैं। तुम्हारी जिज्ञासा है इसलिये यहाँ उन ४१ प्रकृतियों के नाम लिख रही हूँ।

मिथ्यात्वसंबंधी १६ प्रकृति - मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु इन १६ प्रकृतियों के बंध की व्युच्छित्ति पहले गुणस्थान में होती है।

अनंतानुबंधीसंबंधी २५ प्रकृति -

अनंतानुबंधी	४	- क्रोध, मान, माया, लोभ।
स्त्यानगृध्दि आदि	३	- स्त्यानगृध्दि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला।
संस्थान	४	- न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन।
संहनन	४	- वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलित।
तिर्यंचसंबंधी	४	- तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचायु, उद्योत।
अन्य	३	- दुर्भग, दुस्वर, अनादेय।
अन्य	३	- स्त्रीवेद, नीचगोत्र, अप्रशस्त विहायोगति।

पहले प्रायोग्यलब्धि के प्रकरण में प्रकृतिबंधापसरण द्वारा ४६ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है इस बात को हमने देखा था। तुम्हें सवाल उठना स्वाभाविक है कि यहाँ चौथे गुणस्थान में जानेवाले जीव के तो ४१ प्रकृति का संवर होता है तो कौनसी प्रकृति का बंध दुबारा प्रारंभ होता है?

देखो, ४६ प्रकृतियों में से मनुष्यायु और देवायु दो आयुकर्म तथा ३३ वें और ३४ वें स्थान की कुल ११ प्रकृतियां सब मिलाकर १३ प्रकृतियों का बंध चौथे गुणस्थान में होगा परंतु अन्य ८ प्रकृतियों का बंध मिटेगा। वे इसप्रकार हैं - मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, और स्त्यानगृध्दि, निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला इन ८ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है। ४६ - १३ + ८ = ४१

इसी प्रकार प्रत्येक गुणस्थान की बंध व्युच्छित्ति निश्चित है। यहाँ गुणस्थानानुसार संख्या लिख रही हूँ। 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' में उसका सविस्तार वर्णन है।

गुणस्थान	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
बंधव्युच्छित्ति	१६	२५	०	१०	४	६	१	३६	५	१६	०	०	१

उपरोक्त प्रकार से १२० प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती जाती है। चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में योग का अभाव होने से बंध ही नहीं होता, जीव सर्वथा अबंध दशा को प्राप्त होता है। यहाँ सभी कर्मों का आस्रव और बंध सर्वथा रुक जाने से पूर्णरूप से संवर प्रकट होता है।

जिसप्रकार बंध का अभाव होते जाता है उसीप्रकार विवक्षित गुणस्थान में विवक्षित प्रकृतियों के उदय का भी अभाव होते जाता है - उनके उदय की व्युच्छित्ति होती जाती है। सम्यक्त्व प्राप्त होते ही चौथे गुणस्थानवाले जीव के मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी क्रोधादि चार, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, आतप, स्थावर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सम्यग्मिथ्यात्व इन सभी के उदय का अभाव होता है।

तुम पूछोगी, 'परंतु हमने पूर्व में बांधे हुये कर्म जायेंगे कहाँ?' इसमें घबराने की कोई जरूरत नहीं है। सत्ता में पड़े हुये कर्म कुछ भी लाभ नुकसान नहीं करते। इन कर्मों की निर्जरा, क्षय अथवा सजातीय अन्य प्रकृति में संक्रमण आदि विधान का वर्णन क्षपणासार आदि ग्रंथों में से जानने पर हमारे सभी प्रश्नों का समाधान हो जाता है।

कर्मकाण्ड ग्रंथ में से बंध और उदय की व्युच्छित्ति पढ़कर उसे कंठस्थ करना। क्योंकि उनका ज्ञान होनेपर मोक्षमार्ग का स्वरूप अत्यंत स्पष्ट रीति से अपने ख्याल में आता है, अन्यमतियों की अनेक भ्रांत कल्पनाओं का निराकरण हो जाता है।

तुम कहोगी, 'बंध तथा उदय की व्युच्छित्ति जानकर अन्यमति की भ्रांतियों का निराकरण कैसे हो सकता है? कोई उदाहरण हो तो बताओ।'

उसके लिये प्रथम कुछ नियम जान लो। ये नियम भी बंध और उदय की व्युच्छित्ति के कारण ही होते हैं। हमने देखा था कि चारों गतिवाले जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। नरक का जीव नपुंसकवेदी है, देव स्त्रीवेदी या पुरुषवेदी हैं, मनुष्य और तिर्यंचों में तीनों वेदों में से कोई एक वेद होता है। ये सब जीव

सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। परंतु सम्यक्त्व के साथ मनुष्य, तिर्यंच या देव में जन्मनेवाला जीव पुरुष ही होता है, स्त्री नहीं। नरक में तो एक नपुंसकवेद ही होता है। किसी भी गति की स्त्री, भले वह स्वर्ग की देवी हो, जन्म से सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकती। मनुष्य में भी कोई स्त्री जन्म से सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकती। दूसरी बात, मनुष्य में स्त्रियों को पांचवां गुणस्थान प्राप्त हो सकता है परंतु वे मुनि नहीं बन सकती, उनके छठवां या आगे का गुणस्थान नहीं हो सकता।

अब हम एक भ्रामक कल्पना का खंडन किसतरह होता है उसे देखते हैं। एक अत्यंत भ्रामक कल्पना है कि मल्लिनाथ तीर्थंकर स्त्री थे, वे स्त्री पर्याय में से ही तीर्थंकर होकर मुक्त हुये।

मल्लिनाथ भगवान भरतक्षेत्र के तीर्थंकर थे। भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों के पांचों ही कल्याणक होते हैं - गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक। जिसका गर्भकल्याणक होता है वह जीव नियम से सम्यक्त्व के साथ ही गर्भ में आता है, वह पूर्व भव में सम्यग्दृष्टि ही होता है। तो सम्यक्त्व के साथ जन्मनेवाला जीव पुरुष ही होता है, स्त्री कदापि नहीं। उनके भाववेद की अपेक्षा भी पुरुषवेद ही होता है, स्त्रीवेद हो ही नहीं सकता।

मल्लिनाथ तीर्थंकर का जीव पूर्व भव में अपराजित स्वर्ग का देव था, वहाँ से चय कर वे मनुष्य हुये थे। अपराजित स्वर्ग के सभी जीव जन्मतः सम्यग्दृष्टि ही रहते हैं तथा वहाँ देवांगना होती ही नहीं, केवल पुरुष पर्याय के ही जीव होते हैं। इसलिए पूर्व भव में भी वे पुरुष ही थे।

तीसरी बात, ग्रैवेयक स्वर्गों के ऊपर अनुदिश और अनुत्तर स्वर्ग के सभी देव उसके पूर्व में भावलिंगी मुनि ही होते हैं जो कि पुरुष ही होते हैं, स्त्री नहीं। इसतरह मल्लिनाथ का जीव पूर्व के तीसरे भव में भी पुरुष ही था, स्त्री नहीं।

और एक नियम जान लो। भाव से स्त्रीवेदवाले पुरुषों को तीर्थंकर प्रकृति का बंध तो हो सकता है परंतु उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं होता। तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है जब कि किसी स्त्री को पांचवें गुणस्थान से ऊपर जाने की योग्यता ही नहीं होती।

और भी जानना है? उसी भव में मोक्ष जानेवाले जीव को चरम शरीरी कहते हैं। उनके नियम से वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है जब कि स्त्रियों को नीचे के तीन संहनन ही होते हैं। ऊपर के तीन संहनन कभी हो ही नहीं सकते।

हमें किसी व्यक्ति ने कहा था कि, 'मल्लिनाथ तीर्थंकर स्त्री थे या पुरुष थे इस झमेले में हम क्यों पड़े? उससे हमें क्या लेना देना? कोई उन्हें स्त्री माने या कोई उन्हें पुरुष माने इसमें क्या बिगड़ता है?'

बेटियों, जिसे जो मानना है, वह वैसा मान ही रहा है। परंतु यथार्थ वस्तुस्थितिसंबंधी अपना निर्णय यथार्थ है या नहीं देखना प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। देव, मुनि तथा शास्त्र का यथार्थ स्वरूप ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है इसतरह दृढ़ निर्णय हुये बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

चारों ही अनुयोगों के अभ्यास द्वारा अपनी मान्यता एवं आचरण की विपरीतता दूर करके वीतरागता प्राप्त करना ही अपना आद्य कर्तव्य है। यहाँ अन्य जीवों के दोष दिखाना अपना प्रयोजन नहीं है, परंतु अपनी मान्यता सुधारने का प्रयोजन है। अन्य जीवों के आचरण तथा उनकी मान्यतायें देख देखकर स्वयं कषायी होना योग्य नहीं है।

स्वाध्याय तथा तत्त्वज्ञान का अभ्यास नहीं होने से मात्र आचरण सुधारने के उपदेश से मान्यतायें नहीं सुधरती। हमें दूसरों के नहीं परंतु अपने आचार विचार एवं मान्यताओं का अवलोकन करके अपने दोषों का निराकरण स्वयं ही करना चाहिए।

बेटियों, अनंतकाल भटककर हम आज मनुष्यपर्याय में आये हैं। इस मनुष्यभव की दुर्लभता के बारे में हमने पूर्व में चर्चा की थी। अब तत्त्वजिज्ञासा, तत्त्वरुचि तो तुम्हें है ही, जिनेन्द्रकथित तत्त्व भी तुम्हें प्राप्त है, बस अब बारम्बार उन्हीं तत्त्वों का विचार करते रहना। संयोगों को बदलने की रुचि छोड़ दो। सारे संयोग उनकी स्वयं की योग्यता से जैसे बनने बिगड़ने हैं वैसे होंगे। अपनी स्वयं की रुचि कायम रखो। छहढ़ाला में कहा है -

'परद्रव्यनतै भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।'

बेटियों, अनादिकाल से यह जीव संयोगों में, शरीर में, रागादि में ही रचा पचा है। यह जीव कहता है कि, 'भेदज्ञान तो करना है परंतु पहले धन तो कमा लूँ, विदेशयात्रा कर लूँ, बाल बच्चों को पढ़ाऊं, लिखाऊं, उनकी शादि ब्याह

रचाऊं।' मुझे बताओ, स्वयं को संयोगों से भिन्न जानना है, शरीर से भिन्न जानना है, रागादि से भिन्न पहचानना है तो कौनसे संयोग हो तो भेदज्ञान होगा? अमेरिका के या भारत के? झूंपड़ी से भेदज्ञान आसान होगा कि राजमहल से? काला शरीर हो तो भेदज्ञान होगा कि गोरा शरीर? काले बालों से भेदज्ञान करना आसान है या सफ़ेद बालों से? कौनसे राग से अपने को भिन्न पहचानना है? अशुभ से तो यह जीव अपने को भिन्न कहता है परंतु देखो मुझे कैसा उच्च जाति का शुभभाव आता है कहकर संतुष्ट हो जाता है, उसके कारण स्वयं को महान मानता है।

बेटियों, यह तत्त्वज्ञान मात्र सुनने या पढ़ने की चीज नहीं है। उसे आत्मसात करने की चीज है - अंतरोन्मुख पुरुषार्थ करने की चीज है।

आत्मख्याति ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं, 'अलम् अलम् अति विस्तरेन, बहु विकल्पेन।' तो क्या हमें लगता है कि अब बहुत पढ़ा, कब अंदर में समा जाऊं?

अरे, छोटा बच्चा भी माँ यदि उसे खाना खिला रही हो, तो उसे मना करके अपने हाथ से खाने की कोशिश करता है। छोटे छोटे बच्चे टी.व्ही. पर क्रिकेट मैच देखकर स्वयं बैट लेकर बॉल मारने की अैक्शन करते हैं, हमारी रुचि का कार्य हो तो सामनेवाला समझाने लगे तो उसे रोककर मैं समझ गया कहकर स्वयं वैसा करना प्रारंभ करता है।

परंतु अध्यात्मशास्त्र के बारे में तो कोई समझायेगा तो मात्र सुनते रहते हैं और अन्य कार्य करने लग जाते हैं! क्या हुआ है हमें?

लौकिक बातों में तो हम बहुत होशियार हैं। तुम रसोई में तवा गरम करती हो तो क्या चूल्हा (गैस) बंद करके अन्य कार्य करने लग जाती हो और वापिस आकर ठण्डे तवे पर रोटि सेकती हो? बच्चा भी समझता है कि गरम तवेपर रोटी सेकी जा सकती है। मराठी में कहावत भी है 'तवा गरम है तब तक रोटी सेक लो'।

उसीतरह शास्त्र पढ़ते या सुनते समय आत्मा में विशुध्दि बढ़ जाये - अध्यात्म का रस पैदा हो - तो तभी शास्त्र का भी लक्ष्य छोड़कर अंतर्मुख परिणाम होंगे तो सम्यक्त्वरूपी कार्य होगा। लोग कहते भी हैं कि जब तक शास्त्र सुनते हैं तब तक परिणाम अच्छे रहते हैं।

मात्र विशुध्दि अर्थात् शुभभावरूप परिणमन करना हमारा प्रयोजन नहीं है। वह तो अनंत बार कर चुके हैं। शास्त्र पढ़ते समय या उसके पश्चात् जब रस आये - अंदर से तीव्र रुचि लगे - अपने ज्ञानस्वभाव की अपूर्व महिमा आये तो पढ़ना छोड़कर अंतर्मुख हो जाओ।

जीव सोचता है कि अब कितना पढ़ूं तो सम्यक्त्व होगा? जब सिध्दांत सुनकर सही तत्त्वनिर्णय करते हैं तो अब करना धरना क्या? ना दूसरे की पर्याय पलटाना है, ना स्वयं की। हम सहज ज्ञाता दृष्टा हैं उसरूप रह जाना है। हम परिपूर्ण हैं, तो बस दृढ़ विश्वास के साथ आनन्द में रहो।

कोई कहते हैं कि, 'अब मैं कौनसे विकल्प करुं तो मुझे सम्यक्त्व होगा?' उसे कहते हैं - 'अरे, तूने तत्त्वनिर्णय कर लिया, विकल्पों द्वारा तो निर्णय तक पहुंचना था। अब तुझे किस विकल्प की जरूरत है? अपने में ठहर जा, समा जा।'

दही बनाने के लिये दूध जमाती हो तो क्या उसे हिलाती रहती हो? उससे जम जायेगा? बरसात के मैले पानी में फटकड़ी ड़ालने के बाद पानी को हिलाती रहती हो या ठहर जाने देती हो? कांच में से सूर्यकिरणों को इकट्ठा करके कागज़ जला सकतें हैं, वहाँ कांच हिलाते रहने से जलेगा या कुछ क्षण स्थिर रखने से?

इन बातों में तो तुम होशियार हो और अपने में जमना नहीं चाहती। विकल्पों के जाल बुनकर उसी में उलझना चाहती हो? विकल्प तो आयेंगे, परंतु पहले निश्चित तो करो कि विकल्प करते रहने से आत्मानुभव नहीं होगा। विकल्प स्वयं छूट जायेंगे और निर्विकल्प आत्मानुभूति होगी।

विकल्प भी राग है। राग अपनी योग्यता से आयेगा और छूटेगा, संयोग भी आते जाते रहेंगे। सबसे पहले उनसे अपनी भिन्नता जानना है। हम तो संयोगों को हटाना या जुटाना चाहते हैं। हम देवलाली में शिबिर में आते हैं, यहाँ का वातावरण देखकर प्रसन्न होते हैं तो मन में पहला विचार आता है कि मैं भी यहाँ एक बंगला या फ्लैट ले लूँ। परंतु यहाँ के भगवान का दर्शन करके क्या कभी सोचते हैं कि मैं भी भगवान बन जाऊँ?

शास्त्र में शुध्दात्मा तथा अध्यात्म की बातें सुनकर लोग कहते हैं कि,'ये तो बहुत ऊँची बातें हैं। पहले शुभभाव तो करना ही चाहिए ना?' बेटियों, शुभभाव

आ जाते हैं परंतु 'करना चाहिए' इसमें तो मान्यता की गलती है - विपरीत अभिप्राय है।

तत्त्वविचार का भाव तो उत्कृष्ट शुभभाव है। पंचलब्धि के प्रकरण में हमने देखा है कि तत्त्वविचार और तत्त्वनिर्णय से ही अल्प काल में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उसकी चर्चा तो हमने सविस्तार देखी है।

मुझे पूरा विश्वास है कि शास्त्र का यह मर्म समझकर, जिनेन्द्रकथित सिध्दान्तों का बारम्बार अभ्यास - विचार - निर्णय करके तुम सम्यक्त्व प्राप्ति का पुरुषार्थ करोगी। उसी के द्वारा पंचपरावर्तनरूप संसार का अभाव होकर मोक्ष की प्राप्ति होगी।

हमने अनादिकाल से इस जन्ममरणरूपी संसार में कितना काल गँवाया है इसका चित्रण देखना हो तो द्रव्यपरावर्तन, क्षेत्रपरावर्तन, कालपरावर्तन, भवपरावर्तन और भावपरावर्तन का स्वरूप समझना चाहिए। इस विषय की कैसेट्स तथा सी. डी. भी बन चुकी हैं। उसे अवश्य सुनना।

अब अपना पंचलब्धि का विषय यहीं पर समाप्त करती हूँ। विषय गहरा है, पढ़ाते और लिखते समय मेरा ग्रंथों का अनेक बार पढ़ना हुआ, जैनेन्द्र सिध्दान्त कोश, लब्धिसार, मोक्षमार्गप्रकाशक इनका अनेकों बार आधार लिया।

तुम भी बार बार पढ़कर इसे अच्छी तरह से जान लो। इससे भविष्य में मूल ग्रंथ पढ़ते समय तुम्हें आसानी होगी। एक बात की पुनश्च याद दिलाती हूँ। इनमें से कर्मों के नाम तथा अवस्था के बारे में कुछ याद न रहे तो कोई बात नहीं परंतु जीव और कर्म की स्वतंत्रता को कभी मत भूलना। अपनी स्वभाव की दृष्टि कभी मत छोड़ना। मोक्ष का सही उपाय करनेवाले को सभी कारण स्वयमेव मिल जाते हैं।

महावीर जयंती के दिन इस पंचलब्धि विषयपर पत्ररूप स्वाध्याय शुरू किया था, आज महावीर निर्वाण के दिन देवलाली में इसकी पूर्णता हो रही है।

कल्याणमस्तु।

जय जिनेन्द्र।

तुम्हारी माँ